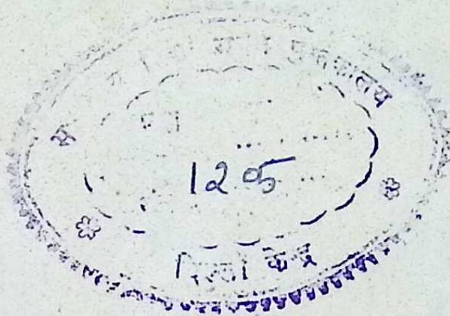
श्रीमती बहन लीलावती मुंशी को
सादर तथा सप्रेम भेंट
—— चन्द्रावती लखनपाल
३१.३.१९५८





इस पुस्तक पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने पांच सौ रुपये का सेकसरिया पारितोषिक दिया है

स्त्रियों की स्थिति



लेखिका

चन्द्रावती लखनपाल एम. ए., बी. टी. (एम. पी.)

विद्या-विहार, बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून

[लेखिका--शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षा-शास्त्र तथा मदर-इंडिया का जवाब]

मूल्य चार रुपया

तृतीय संस्करण] [१९५७

प्रकाशक
विजयकृष्ण लखनपाल
विद्या-विहार, ४ बलबीर ऐवेन्यू
देहरादून

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
नई दिल्ली

हिन्दी के हमारे अमर प्रकाशन

१. ब्रह्मचर्य-सन्देश

भूमिका लेखक

श्री १०८ स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

(पुस्तक-लेखक—श्री सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार)

नवयुवकों को ब्रह्मचर्य-जैसे गम्भीर विषय पर सरल, सुन्दर भाषा में जो कुछ कहा जा सकता है इस पुस्तक में कह दिया गया है। स्व० स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी। खण्डवा का कर्मवीर पत्र लिखता है—"सब से अधिक खोजपूर्ण, सब से अधिक प्रामाणिक, सब से अधिक ज्ञातव्य विषयों से भरी हुई यही पुस्तक देखने में आयी है।" इस पुस्तक में ८-१० चित्र आर्ट पेपर पर दिये गये हैं जिनका ब्रह्मचर्य जैसे कठिन विषय को समझने के साथ विशेष सम्बन्ध है। पुस्तक के तीन संस्करण समाप्त हो चुके हैं, यह चौथा संस्करण है। इस पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि गुजराती में इसके दो स्वतन्त्र अनुवाद हो चुके हैं। अंग्रेजी में ग्रंथकर्त्ता ने स्वयं इसका अनुवाद किया है, जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं। अनेक नवयुवकों ने इस ग्रन्थ को पढ़कर लिखा है कि क्या अच्छा होता, कुछ दिन पहले यह पुस्तक मेरे हाथ पड़ जाती और मैं जीवन-मार्ग में पथ-भ्रष्ट होने से बच जाता। बड़े भाई को छोटे के, पिता को पुत्र के और नवयुवकों के शुभ-चिन्तकों को अपने अभिभावकों के हाथ में देने के लिए इससे उत्तम दूसरी पुस्तक नहीं। कोई भी पुस्तकालय इस पुस्तक के बिना अधूरा है। कपड़े की सजिल्द पुस्तक का मूल्य साढ़े चार पया।

इस पुस्तक पर ८०० रुपया पारितोषिक मिला है

धारावाही हिन्दी में सचित्र

२. एकादशोपनिषद्

(मूल-सहित)

(लेखक--प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

आर्य-संस्कृति के प्राण उपनिषद् हैं। उपनिषदों के अनेक अनुवाद हुए हैं, परन्तु प्रस्तुत अनुवाद सब अनुवादों से विशेषता रखता है। इस अनुवाद में हिन्दी को प्रधानता दी गई है। जो व्यक्ति संस्कृत के बखेड़े में न पड़ कर उपनिषद् का तत्व गहण करना चाहे वह सिर्फ़ हिन्दी भाग पढ़ जाय। उसे कोई स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जो सरल न हो, स्पष्ट न हो, जिसमें किसी तरह की कोई भी उलझन हो। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरों में हिन्दी भाग दिया गया है, यह हिन्दी भाग धारावाही तौर पर दिया गया है, और जो कोई हिन्दी तथा मूल-संस्कृत की तुलना करना चाहे उसके लिए अंक देकर नीचे संस्कृत-भाग भी दे दिया गया है। फ़ुटनोट में दिये संस्कृत-भाग को छोड़ कर जो सिर्फ़ हिन्दी पढ़ना चाहे वह धारा-वाही हिन्दी-भाग को पढ़ता चला जाय—विषय एकदम स्पष्ट होता चला जायगा, कहीं, किसी तरह का अटकाव नहीं आयगा। पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अनुवाद में मक्खी-पर-मक्खी मारने की कोशिश नहीं की गई, विषय को खोल कर रख दिया गया है। साधारण पढ़े-लिखे लोगों तथा संस्कृत के अगाध पंडितों--दोनों के लिए यह नवीन ढंग का ग्रन्थ है। यही इस अनुवाद की मौलिकता है।

मुख्य-मुख्य उपनिषद् ग्यारह मानी गई हैं। इन सभी उपनिषदों का धारावाही हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थ में मूल-सहित दे दिया गया है। पुस्तक को रोचक बनाने के लिए जगह-जगह चित्र भी दिये गये हैं। बढ़िया कपड़े की सजिल्द पुस्तक का मूल्य बारह रुपया।

३. आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व

(लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

दैनिक हिन्दुस्तान अपने १० जनवरी १९५४ के अंक में लिखता है—"हम तो यहां तक कहने का साहस रखते हैं कि भारत से बाहर जाने वाले सांस्कृतिक-मिशन के प्रत्येक सदस्य को इस पुस्तक का अवलोकन करना चाहिये। लेखक की विचार-शैली, प्रतिपादन-शैली, विषय-प्रवेश की सूक्ष्मता डा० राधाकृष्णन से टक्कर लेती है। आज के देश के अंग्रेजीमय वातावरण में यदि इस पुस्तक का अंग्रेजी में अनुवाद करा दिया जाय तो पुस्तक विशेष रूप से लोकप्रिय होगी।"

नव-भारत टाइम्स अपने १० दिसम्बर १९५३ के अंक में लिखता है—"लेखक ने आर्य-संस्कृति के अथाह समुद्र में पैठकर, उसका मन्थन करके, उसमें छिपे रत्नों को बाहर लाकर रख दिया है। भाषा इतनी परिमार्जित है कि पढ़ते ही बनती है। इस ग्रन्थ को अगर आर्य-संस्कृति का दर्शन-शास्त्र कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। हिन्दी के संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य में इस ग्रन्थ का स्थान अमर रहने वाला है।"

साप्ताहिक हिन्दुस्तान अपने ३ जनवरी १९५४ के अंक में लिखता है—"हमारी सम्मति में आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में आज तक जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उनमें प्रो० सत्यव्रत जी की लिखी इस पुस्तक का बहुत ऊंचा स्थान है। समग्र पुस्तक गहन विषयों को सरल भाषा में व्यक्त किये गये विचारों से भरी पड़ी है। आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में इस प्रकार की मार्मिक विवेचना करने वाली यह पहली पुस्तक हमारे देखने में आई है। जो लोग आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करना चाहें, उनका ज्ञान इस पुस्तक को पढ़े बिना अधूरा रहेगा।"

पुस्तक की विषय-सूची

१. आर्य-संस्कृति का केन्द्रीय विचार, २. विचारों के संघर्ष में आर्य-संस्कृति का दृष्टि-कोण, ३. निष्काम-कर्म, ४. कर्म का सिद्धांत, ५. आत्म-तत्व, ६. स्वार्थ-परार्थ-विवेचन में 'अहंकार' तथा 'आत्म-तत्व', ७. विश्व-बन्धुत्व का आधार आत्म-तत्व, ८. जीवन-यात्रा के चार पड़ाव, ९. नव-मानव का निर्माण, १०. वर्ण-व्यवस्था का आध्यात्मिक आधार, ११. भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद, १२. उपसंहार।

सजिल्द पुस्तक का मूल्य चार रुपया

४. समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण

[Sociology and Child-Welfare]

(लेखक---प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

भूमिका लेखक

आचार्य जुगलकिशोर जी, समाज-कल्याण मन्त्री, उत्तर-प्रदेश

समाज-शास्त्र वर्तमान-युग का दिनोंदिन बढ़ता हुआ विषय है। प्रायः सभी विश्व-विद्यालयों में इस विषय का अब अध्यापन होने लगा है। सर्व-साधारण के लिये भी इसकी जानकारी उन्हें जीवन में सफल बनाने में सहायक है। प्रो० सत्यव्रत जी समाज-शास्त्र के माने हुए विद्वान् हैं। उन्होंने इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं जो बी. ए. के विद्यार्थियों को पढ़ाई जाती हैं। यह पुस्तक समाज-शास्त्र का साधारण परिचय देने के लिये लिखी गई है और इसलिये इसमें उन सभी विषयों की चर्चा की गई है जो इन्टरमीजियेट की योग्यता रखने वाले व्यक्ति के लिये आवश्यक हैं। अब इस पुस्तक का इन्टरमीजियेट के विद्यार्थी इस विषय की जानकारी के लिये उपयोग करने लगे हैं। वैसे सर्व-साधारण के लिये भी समाज-शास्त्र के विषय की जानकारी के लिये यह बहुत उत्तम ग्रन्थ है। पुस्तक की विषय-सूची निम्न है :--

विषय-सूची

सजिल्द पुस्तक का मूल्य चार रुपया

५. समाज-कल्याण तथा सुरक्षा
(Social-welfare and Security)
(लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

आज का युग समाज-कल्याण का युग है। समाज-कल्याण का आधार क्या है? समाज-कल्याण किसे कहते हैं?—ये सब विषय आज विश्व-विद्यालयों के छात्रों को पढ़ाये जा रहे हैं। समाज-शास्त्र की बी. ए. तथा एम. ए. की पाठ-विधि में समाज-कल्याण एक विषय है, परन्तु इस पर अभी तक कोई प्रामाणिक पुस्तक नहीं थी। प्रो० सत्यव्रत जी ने इस कमी को पूरा कर दिया है। जहां-जहां भी समाज-सेवक तैयार किये जा रहे हैं, वहां-वहां इस पुस्तक के आधार पर इस विषय की सुन्दर विवेचना की जा सकती है। इस पुस्तक द्वारा बी. ए. तथा एम. ए. के विद्यार्थियों की 'समाज-कल्याण' सम्बन्धी समस्या पूर्ण रूप से हल हो गई है। पुस्तक में ४० के लगभग अध्याय हैं और ६०० के लगभग पृष्ठ हैं। बड़े साइज़ की सजिल्द पुस्तक का दाम केवल दस रुपया रखा गया है।

इस पुस्तक पर १००० रुपया पारितोषिक मिला है

नवीन संस्करण

६. समाज-शास्त्र के मूल-तत्व
(लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

समाज-शास्त्र के मूल-तत्व पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, परन्तु उन सब में से प्रामाणिक तथा सर्व-मान्य पुस्तक प्रो० सत्यव्रत जी का 'समाज-शास्त्र के मूल-तत्व' ही है। इस पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से प्रमाणित होती है कि उत्तर-प्रदेश की सरकार ने बी. ए. के लिए अपने विषय की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक होने के कारण इस पर १०००) रुपये का पारितोषिक दिया है।

पुस्तक का पहला संस्करण समाप्त हो चुका है। अब पुस्तक का द्वितीय नवीन-संरकरण प्रकाशित हुआ है जिसमें पहले संस्करण की अपेक्षा सौ पृष्ठ का नया मैटर है।

इस पुस्तक के विषय में एक विद्यार्थी ने लिखा था—'यदन्यत्र तदिहास्ति यदिहास्ति न तत्क्वचित्'—जो दूसरी किसी पुस्तक में है वह तो इसमें है ही, जो इसमें है वह किसी पुस्तक में नहीं है।' मूल्य दस रुपया।

मंगलाप्रसाद पारितोषिक-प्राप्त

७. शिक्षा-मनोविज्ञान (सचित्र)

लेखिका--चन्द्रावती लखनपाल एम. ए., बी.टी. (एम.पी.)

शिक्षा-मनोविज्ञान पर यह हिन्दी में सर्वोत्तम पुस्तक है। इस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद ने १२००) का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक देकर लेखिका को सम्मानित किया था। काशी विश्व-विद्यालय के उस समय के प्रिन्सिपल, जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी, राय-बहादुर लज्जाशंकर झा ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा था कि चन्द्रावती जी ने ऐसी उत्तम पुस्तक लिखकर हिन्दी-साहित्य की भारी सेवा तो की ही है, साथ ही ट्रेनिंग कालेज को तो वरतन्तु के शिष्य के समान १४ करोड़ की दक्षिणा चुका दी है।

इस पुस्तक में ४० के लगभग चित्र दिये गये हैं। पहले संस्करण से अब पुस्तक में दुगना मैटर है। यह पुस्तक का छठा संस्करण है। इन्टर-मीजियेट तथा नार्मल स्कूलों के लिए इससे बढ़िया दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है।

सजिल्द पुस्तक का मूल्य पांच रुपया

८. शिक्षा-शास्त्र (सचित्र)

लेखक---श्री प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार
श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल

इस पुस्तक की भूमिका माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी ने लिखी है। 'शिक्षा' के सम्बन्ध में जितने आधुनिक विचार हैं, वे सब इस ग्रन्थ में थोड़े-से में, अत्यन्त सरल तथा रोचक भाषा में दिए गए हैं। 'शिक्षा के सिद्धान्त' (Principles of Education), 'शिक्षा की विधि' (Method of Education), 'शिक्षा का विधान' (Organisation of Education), तथा 'भारतीय-शिक्षा का आदि काल से आज तक का इतिहास' (History of Indian Education)--ये सब विषय इस ग्रन्थ में एक साथ दिये गये हैं। इस नवीन संस्करण में शिक्षा-शास्त्रियों के पच्चीस चित्र दिये हैं और सौ पृष्ठ का मैटर बढ़ा दिया है। शिक्षा-शास्त्र पर यह अद्वितीय पुस्तक है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य चार रुपया।

उक्त पुस्तकों के मंगाने का पता

विजयकृष्ण लखनपाल

विद्या-विहार, ४ बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून।

विषय-सूची

प्रस्तावना

(लेखिका—श्रीमती लीलावती मुंशी, एम० पी०)

बहन चन्द्रावती लखनपाल ने 'स्त्रियों की स्थिति'-नामक पुस्तक लिखी है। मैंने पुस्तक को पढ़ा। यह सारी पुस्तक स्त्री-जाति के साथ सदियों से समाज का जो अन्यायपूर्ण व्यवहार होता रहा है उसके प्रति प्रतिक्रिया है। चन्द्रावती जी के हृदय में इन सब अन्यायों को देखकर आग सुलग उठी है, और स्त्री एवं पुरुष के जीवन को जो अलग-अलग नाप-तौल से नापा जाता है, उसे वे सहन नहीं कर सकीं।

अगर पतिव्रत स्त्री के लिए उचित समझा जाता है, तो पुरुष के लिए भी पत्नीव्रत उचित होना चाहिए; अगर स्त्री के लिए जीवन में एक ही वार विवाह आदर्श है, तो पुरुष के लिए भी यही आदर्श होना चाहिए; अगर विधुर के लिए विवाह करना बुरा नहीं माना जाता, तो विधवा के लिए भी विवाह बुरा क्यों समझा जाय? सम्पत्ति में पुरुष और स्त्री का समान भाग होना चाहिए, यह बात चन्द्रावती जी बलपूर्वक मानती हैं, और अब इस आशय का कानून स्वीकृत होने पर उन्होंने बड़ी खुशी भी प्रकट की है। इन सब बातों के होते हुए भी, चन्द्रावती जी उच्छृंखलता का अनुमोदन नहीं करतीं। उन्होंने इस बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया है—कनॉट-प्लेस की नारी का, और विधान-सभा की नारी का। कनॉट-प्लेस में जाने वाली सभी नारियों का नहीं, मगर एक विशेष प्रकार की नारी का, और ऐसी नारियों को उत्पन्न करने का दोष उन्होंने पुरुषों के कन्धों पर रखा है। मैं मानती हूँ कि एक दृष्टि में यह बात सही है, और एक दृष्टि से सही नहीं भी है। जिस प्रकार की नारी का इन्होंने वर्णन किया है, वह दो प्रकार से बनती है। एक तो समाज ने या पुरुष ने जिसके साथ अन्याय किया हो, रास्ते की नारी बनने के सिवाय उसके पास कोई चारा ही नहीं रहता। दूसरे, आज के शिक्षण और सिनेमा के प्रभाव से भी कनाट-प्लेस की नारी

की रचना हो रही है, जो अपने आकर्षण की आज आजमाईश पुरुष पर करना चाहती है। इसमें पुरुष का इतना दोष नहीं जितना नारी का अपना दोष है। इनमें से बहुत-सी नारियाँ ऐसी हैं, जो बहुत आगे नहीं बढ़ना चाहतीं, मगर असावधानता से वे आगे बढ़ जाती हैं, और ग़ैर-ज़िम्मेवार लोग उनका फ़ायदा उठाते हैं।

विधान-सभा की नारी, जिसका प्रतीक चन्द्रावती जी हैं, वह कनॉट-प्लेस की नारी की ओर अंगुली-निर्देशन करके चेतावनी देती हैं—देखो, पुरुष-समाज का अन्यायपूर्ण व्यवहार स्त्रियों को कहाँ तक ले जा सकता है? विधान-सभा की नारी चाहती है समान-अधिकार—जीवन में, व्यवहार में, सम्पत्ति में—तितली बनने का अधिकार वे नहीं चाहतीं, वे चाहती हैं मानवता का अधिकार!

अब नये कानून स्वीकृत होने के बाद स्त्रियों को समान अधिकार तो मिलेंगे, परन्तु समाज का मानस बदलने में अभी थोड़ी देर लगेगी। स्त्रियों के लिए जो कल्पना समाज-मानस में है, वह कोई दो-चार सालों में थोड़े ही बदल सकती है!

मगर देश जागृत हुआ और स्त्रियाँ भी जागीं, इसमें कोई शंका नहीं। पिछले ८ साल की जागृति, पिछले ८० सालों में कभी नहीं हुई थी। स्त्रियों के समान-अधिकार के बारे में और स्त्रियों के उज्ज्वल भविष्य के बारे में, मुझे कोई शंका नहीं और न चन्द्रावती जी को है। दो शब्दों में कहूँ तो कह सकती हूँ कि स्त्री में कर्मशीलता बढ़ती जा रही है। चन्द्रावती जी ने ठीक लिखा है—"भविष्य में स्त्री शक्ति के रूप में, माता के रूप में प्रकट होगी, स्त्री का यह दिव्य, सात्विक रूप उसका वास्तविक रूप होगा, और वही उसकी स्पृहणीय स्थिति होगी।"

मैं बहन चन्द्रावती जी के इस उद्योग की हृदय से सफलता चाहती हूं और चाहती हूं कि जो विचार उन्होंने इस पुस्तक में लिखे हैं वे हर भा -बहन तक पहुँचें ताकि स्त्रियों के विषय में हमारे विचारों की संकीर्णता दूर हो

प्रारम्भिक शब्द

हमारा समाज जो स्त्रियों के प्रश्नों के प्रति सर्वथा उपराम था, अव उन प्रश्नों पर बड़े ग़ौर से विचार करने लगा है। स्त्रियों के बंधनों को काट देने के लिये अव चारों तरफ़ से आवाज़ें आने लगी हैं। प्रत्येक पढ़ा-लिखा आदमी स्त्रियों की आज़ादी के हक़ में सोचने लगा है। ग़रीब घरों के लोग भी लड़कियों को पढ़ाने लगे हैं। स्त्रियों की हमारे समाज में अब तक जो स्थिति रही है, उसके विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हो रही है, और यह प्रतिक्रिया ऐसे आंधी के वेग से हो रही है कि पुराने विचारों को जड़ से उखाड़ फेंके दे रही है।

इस प्रतिक्रिया के युग में पुराने विचारवालों का भी बिलकुल अभाव नहीं है। प्रतिक्रिया की प्रवलता को देखकर वे लोग घवरा उठे हैं। वे पुराने विचारों को और ज़्यादा ज़ोर से चिपट गये हैं, मौक़े-बे-मौक़े हर-एक पुराने विचार की तरफ़दारी करते हैं। उनकी समझ में स्त्रियाँ इस लायक़ हैं ही नहीं कि उन पर एक मिनट के लिये भी विश्वास किया जा सके। उनके मत में स्त्रियों को जकड़कर रखना ही उन्हें ठीक रास्ते पर चलाने का एक मात्र साधन है। ग़नीमत यही है कि ऐसे लोगों की संख्या दिन-प्रति दिन कम हो रही है।

पुरानी लकीर के पीटनवालों के ख़िलाफ़ नए विचारों में उड़नेवाले इतना आगे बढ़ गए हैं कि वे हर-एक पुरानी वात से, हर-एक पुराने विचार से तंग आ गए जान पड़ते हैं। वे नई बात को, नए विचार को, नई लहर को खोजते-से फिरते हैं। वे हर-एक पुराने विचार का मज़ाक उड़ाते हैं। उनकी समझ में कोई वात सिर्फ़ इसलिये छोड़ देने लायक़ है क्योंकि वह पुरानी है। उन्हें समझ हो नहीं आता कि पातिव्रत्य भी कोई आदर्श हो सकता है। वे पुराने भारतीय आदर्शों से इतना थक गए हैं कि सीता और सावित्री का नाम सुनते ही उन्हें उबासियाँ आने लगती हैं। प्रति-

क्रिया के जोश में वे स्त्री-संबंधी किसी पुराने आदर्श को अपनाने के लिये तैयार नहीं होते। ऐसे लोगों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है।

स्त्रियों के साथ अब तक़ जैसा बर्ताव होता रहा है, उसकी जब तक पूरी प्रतिक्रिया नहीं हो लेती, तब तक शायद स्वाभाविक अवस्था भी नहीं आ सकती। हमें स्त्रियों को आज़ाद स्थिति में लाने के लिये ऊंची-से-ऊंची और ज़ोरदार-से-ज़ोरदार आवाज़ उठानी होगी। मैंने पुस्तक में प्रतिक्रिया की इस आवाज़ को उठाने में अपनी तरफ़ से कोई कसर नहीं उठा रक्खी। मैं चाहती हूँ कि स्त्रियों के बंधन की एक-एक कड़ी मुझे अपनी आँखों के सामने टूटती नज़र आए, परंतु इस प्रतिक्रिया में मैं यह नहीं भुला सकती कि यह प्रतिक्रिया है। जो विचारक प्रतिक्रिया के समय उस घटना के प्रतिक्रिया होने के विचार को भुला देता है, वह विचारक कहलाने के लायक़ नहीं। मैं समझती हूँ कि स्त्रियों के संबंध में जो पुराने विचार हममें घर कर गए हैं, उनमें प्रतिक्रिया हुए बग़ैर स्त्रियों की स्थिति सुधर नहीं सकती, परंतु मैं यह भी समझती हूँ कि यह प्रतिक्रिया कई तरफ़ उचित सीमाओं का उल्लंघन करती जा रही है। हम प्रतिक्रिया करते हुए अपनी पाश्चात्य बहनों का अंधा अनुकरण करने लगी हैं। हम समझती हैं कि पुराना जो-कुछ था, मट्टी था, उसमें कुछ था ही नहीं। यह बात ग़लत है। हम जिस आज़ादी को चाहती हैं, वह भारत की स्त्रियों को किसी समय प्राप्त थी। अपनी चतुर्मुख उन्नति करने में उन्हें पूरी सुविधा थी। पुरुष तथा स्त्रियों में जिस प्रकार के इस समय भेद समझे जाते हैं, इस प्रकार के भेद उस समय नहीं थे। आज़ादी की दृष्टि से देखा जाय, तो वैदिक-युग और बीसवीं सदी की स्त्री में रत्ती-भर फ़रक नहीं था। स्त्रियों की स्थिति भारतवर्ष में बहुत पीछे जाकर गिरी। अब हम स्त्रियों की स्थिति में वर्तमान गिरावट को ही भारत में स्त्री की असली स्थिति समझने लगी हैं, और हमें इसमें लेने लायक़ कुछ नहीं मिलता, पाश्चात्य-आदर्श में ही सब-कुछ दिखाई देता है। परंतु क्या पश्चिम की बहनें जिस मार्ग से जा रही हैं, उससे वे स्वयं संतुष्ट हैं? इसमें संदेह नहीं कि हमें आज़ादी की भावना उनसे सीखनी है। पश्चिम

की बहनें परतंत्र थी, और फिर स्वतंत्र होगई; हम अभी कहने को स्वतंत्र होते हुए भी परतंत्र हैं, और हमें सही मानों में स्वतंत्र होना है; परन्तु स्वतंत्र होकर हमें आदर्श अपने ही रखने हैं–भारत के मध्यकालीन इतिहास के आदर्श नहीं, परंतु वैदिक-युग के आदर्श; वे आदर्श, जो स्त्री को पुरुष के बराबर की स्थिति ही नहीं देते, परंतु कई अंशों में पुरुष से भी ऊंची स्थिति देते हैं।

इन्हीं भावनाओं में यह पुस्तक लिखी गई है। पुराने तथा नए दोनों विचारों के लोग इसमें एक-दूसरे से उल्टी बातें पाएंगे। उन्हें परस्पर विरोध इसलिये दिखाई देगा, क्योंकि उनकी दृष्टि में या पुराने विचार ही सही हो सकते हैं, या नए विचार ही। परंतु मेरा दृष्टिकोण यह नहीं है। मैं अपनी पश्चिमी बहिनों की तरह आज़ादी तो चाहती हूँ, और बड़े ज़ोर से चाहती हूँ, परंतु मुझे पश्चिमी आदर्शों से प्रेम नहीं है। हमें आज़ादी की भावना उनसे सीखनी होगी, परंतु आदर्श अपने रखने होंगे। मैं चाहती हूँ कि सिर्फ़ पूर्व अथवा सिर्फ़ पश्चिम के पीछे भागने के बजाय दोनों में जो सत्य है, शिव है, सुन्दर है, उसका सम्मिश्रण करके स्त्रियों की स्थिति की कल्पना की जाय। इसी कल्पना का चित्र इन पृष्ठों में दिया गया है। मैं समझती हूँ, इस समय जब समाज एकदम स्त्रियों के प्रश्नों की तरफ़ ध्यान देने लगा है, स्त्री-जाति के संबंध में पूर्व तथा पश्चिम की सुन्दर-सुन्दर भावनाओं को मिलाकर देखा जाय। इस प्रयास में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय मैं पाठक-पाठिकाओं पर छोड़ती हूँ।

यह पुस्तक का तृतीय संस्करण है। इस पुस्तक पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, अलाहाबाद, ने पांच सौ रुपये का सेकसरिया पारितोषिक देकर इसे उस वर्ष की स्त्री-लेखिकाओं में से सर्वोत्कृष्ठ रचना घोषित किया था। इसका अभिप्राय मैं अपना नहीं, इन विचारों का सम्मान समझती हूँ, और आशा करती हूँ कि इन विचारों को पढ़कर हमारे भाई-बहिन स्त्री की समस्याओं को रंगीन चश्मे से न देखकर शुद्ध प्रकाश में देख सकेंगी।

—चन्द्रावती लखनपाल

१

भारत में स्त्री-जाति का भूत, वर्तमान तथा भविष्य

१. वैदिक अथवा प्राचीन काल

वैदिक अथवा प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति किसी अंश में भी पुरुषों से कम न थी। वे पुरुषों के बराबर समझी जाती थीं, स्त्री पुरुष का आधा अंग मानी जाती थी। यह भाव 'अर्धाङ्गिनी'-शब्द से भली-भाँति व्यक्त हो जाता है। 'दंपती'-शब्द एक है, परन्तु इस एक शब्द का अर्थ है—'पति तथा पत्नी'। 'दंपती'-शब्द से स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि स्त्री और पुरुष दोनों समानरूप से घर के स्वामी माने जाते थे। 'दम'-शब्द वेदों में 'घर' के लिये प्रयुक्त होता है। उसके वे दोनों मालिक समझे गए थे इसीलिए वे 'दम' अर्थात् 'घर' के 'पति' कहे गए। वैदिक साहित्य में स्त्री तथा पुरुष की उत्पत्ति की कथा भी इस बात को पुष्ट करती है कि उन दोनों की स्थिति समानता की थी। शतपथ, १४, ४, २, १, ५ में लिखा है—

"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुष विधः। सोऽहमस्मि इत्यग्रे व्याहरत् ततः अहं नामाभवत्। स वै न रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। द्वितीय-मैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममात्मानं द्वेधापातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।"

"सृष्टि के प्रारंभ में 'आत्मा' ही था, उसीका नाम 'पुरुष' था। वह इकला था, उसके अतिरिक्त दूसरा न था। उसने कहा—'मैं हूँ'—इसलिए उसका नाम 'अहम्' हो गया। अकेला

रमण नहीं कर सकता था। उसने दूसरे की इच्छा की। वह इतना था, जैसे स्त्री-पुरुष मिले होते हैं। उसके दो टकड़े कर दिये गए, और वे पति-पत्नी कहलाए।" इस कथा का यही अभिप्राय है कि स्त्री-पुरुष एकाकार थे, उस एकाकार अवस्था के दो टुकड़े हो गए। समानता के भाव को प्रकट करने के लिए इससे अच्छा दूसरा क्या अलंकार हो सकता है। यही वैदिक कथानक बाइबिल में भी पहुँचा प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ भी यही लिखा है कि सृष्टि के प्रारंभ में 'आदम' को पैदा किया गया। वह अकेला था; इसलिए उसका जी नहीं लगता था। उसीके दो हिस्से किए गए, और 'आदम' की पसली को निकाल कर उसको स्त्री बना दी गई जिससे 'आदम' तथा 'हौवा' ये दो बन गए। वैदिक-ऐतिह्य का यह अलंकार, जो दूसरे देश के कथानकों में भी चला गया, वैदिक-काल में 'स्त्री की स्थिति' पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

प्राचीन-भारत में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची थी। भारत-वासियों के सब आदर्श स्त्री-रूप में पाये जाते हैं। विद्या का आदर्श 'सरस्वती' में, धन का 'लक्ष्मी' में, पराक्रम का 'महामाया' या 'दुर्गा' में, सौन्दर्य का 'रति' में, पवित्रता का 'गंगा' में। यहाँ तक कि भारत-वासियों ने परम शक्तिशाली भगवान् को भी 'जगज्जननी' के रूप में देखा है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि प्राचीन वैदिक-युग में स्त्रियों को किन पवित्रतम उच्च तथा सम्मान-पूर्ण भावों के साथ देखा जाता था। आज भी भारतवर्ष के अन्दर जगह-जगह 'देवी' के मन्दिर बने हैं, और हज़ारों नर-नारी 'देवी' की पूजा करने मन्दिरों में जाते हैं। 'देवी' की पूजा और 'स्त्री' को 'देवी' शब्द से पुकारा जाना स्त्री की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

भावना में ही स्त्री को ऊँचा स्थान दे दिया गया हो, व्यावहारिक रूप में स्त्री को वह स्थान प्राप्त न हो, यह बात नहीं। वैदिक-काल में स्त्री का परिवार में बहुत ऊँचा स्थान था। परिवार में ही तो व्यावहारिक दृष्टि-कोण परखा जा सकता है। विवाह-संस्कार के समय कुल-वधू को संबोधन करके कहा जाता था (अथर्व १४।१४)—

"सम्राज्येधि श्वशुरेषु सम्राज्युत देवृषु ;
ननान्दुः सम्राज्येधि सम्रज्युत श्वश्र्वाः।"

"हे नववधू ! तू जिस नवीन घर में जाने लगी है, वहाँ की तू सम्राज्ञी है। वह राज तेरा है। तेरे श्वसुर, देवर, ननद और सास तुझे सम्राज्ञी समझते हुए तेरे राज में आनन्दित रहें।" वेद में स्त्री को घर की रानी कहा गया है—इसीसे उस समय में परिवार के अन्दर स्त्री की ऊँची स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

वैदिक समय की स्त्रियों में पर्दे की प्रथा भी न थी। विवाह के उत्तरार्द्ध के समय जो मंत्र पढ़ा जाता था, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। वेद (अथर्व १४।२६) में लिखा है—

"सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत"

"इस सौभाग्यशालिनी वधू को सब लोग आकर देखो।" इस वेद-मंत्र से यह स्पष्ट है कि उस समय पर्दा न था। संपूर्ण वैदिक साहित्य का अवलोकन करने पर भी कहीं पर्दे का ज़िक्र नहीं मिलता। बृहदारण्यक (२।१) में गार्गी की कथा आती है। वहाँ लिखा है कि राजा जनक ने यह जानने के लिए कि उस समय का सबसे बड़ा विद्वान् कौन है, एक भारी सभा की। एक हज़ार गौओं को, जिनके सींग सोने से मढ़े हुए थे, एक जगह खड़ा कर दिया, और यह घोषणा कर दी गई कि जो

सबसे अधिक विद्वान् हो, वह इन गौओं को हाँक ले जाय। ऋषि याज्ञवल्क्य अपने एक शिष्य को गौएँ हाँक ले जाने का आदेश दिया। उस समय गार्गी वाचक्नवी ने भरी सभा में खड़े होकर याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता की परीक्षा करने के लिए बहुत-से प्रश्न किए। गार्गी के इस व्यवहार से जहाँ उसकी विद्वत्ता तथा साहस का प्रमाण मिलता है, वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि उस समय स्त्रियों में पर्दे का रिवाज़ न था। यदि होता, तो गार्गी का भरी सभा में उपस्थित होना तथा पुरुषों के बीच में खड़े होकर वाद-विवाद करना कभी सम्भव न होता। पर्दा तो भारत-वर्ष में महाभारत-काल तक भी नहीं आया था। महाभारत में लिखा है कि दुर्योधन को श्रीकृष्ण से युद्ध न करने के लिए भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य आदि ने बहुत समझाया। जब वे कृतकार्य न हुए, तो उसे समझाने के लिए माता गांधारी को राजसभा में बुलाया गया। इससे यही प्रकट होता है कि उस समय स्त्रियों क राज-दरबार में आने तथा राज्य-कार्यों में परामर्श देने की प्रथा विद्यमान थी।

वैदिक अथवा भारत के प्राचीन काल में स्त्रियाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा ग्रहण करती थीं। यजु० १४।४ में स्त्री को 'सोमपृष्टा' कहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि वह वेद-मंत्रों के विषय में जिज्ञासा करती रहती है। प्राचीन इतिहास में 'सुलभा' का नाम प्रसिद्ध है। सुलभा का संकल्प था कि जो-कोई उसे शास्त्रार्थ में परास्त कर देगा, उसीसे विवाह करेगी। सुलभा का यह निश्चय उसके अगाध पांडित्य का द्योतक है। स्त्रियों का मानसिक विकास चारों दिशाओं में हुआ था, इसका उदाहरण प्रत्यक्ष वेदों में ही मिलता है। वेदों के विषय में जिन्हें थोड़ा-सा भी ज्ञान ह, वे जानते हैं कि वेद-मंत्रों के अर्थों

को स्पष्ट करनेवालों को 'ऋषि' कहा जाता है। भिन्न-भिन्न मंत्रों के अर्थ भिन्न-भिन्न ऋषियों ने खोले हैं। कई वेद-मंत्रों को खोलने वाली 'स्त्री-ऋषिकाएँ' भी हुई हैं। लोपामुद्रा, श्रद्धा, सरमा, रोमशा, विश्ववारा, अपाला, यमी, घोषा आदि स्त्री-ऋषिकाएँ हैं, जिन्होंने वेदों के गूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार किया था।

वैदिक-काल में बाल-विवाह नहीं था, और कन्याओं को पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। अथर्व (११।५।१८) में लिखा है, "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।" —पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर कन्या शिक्षा ग्रहण करती हुई विवाह करे। इस वेद-मंत्र से ज्ञात होता है कि उस समय बालिकाओं के लिए शिक्षा ग्रहण करना उतना ही आवश्यक माना जाता था, जितना कि बालकों के लिए। ब्रह्मचर्याश्रम के सब नियमों को, जिनमें शिक्षा प्राप्त करना प्रधान था, पूरा करके ही कन्या को विवाह करने का अधिकार था। दुधमुंही बच्चियों का विवाह करना वैदिक-काल की प्रथा न थी। उस समय पूर्ण युवति होने पर ही कन्या का विवाह होता था। यह भाव निम्नलिखित मंत्र से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—

> **"सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ;**
> **तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।"**
> (ऋ० १०, ८५, ४०)

इस मंत्र में लिखा है कि कन्या के चार पति होते हैं। पहला सोम, दूसरा गंधर्व, तीसरा अग्नि और चौथा मनुष्य। 'सोम' से अभिप्राय वनस्पति से है। पहले कन्या की शारीरिक-वृद्धि होनी चाहिए। इस कथन को वेद ने इस प्रकार कहा है कि उसका पहला पति 'सोम' है। 'सोम' वनस्पति का नाम है, और वनस्पति से शारीरिक-वृद्धि होती है। शारीरिक-वृद्धि के बाद

कन्या का मानसिक विकास होना चाहिए। इसी भाव को विशद करने के लिए वेद ने कहा है कि कन्या का दूसरा पति 'गंधर्व' है। 'गंधर्व' का काम ललित कलाओं का ज्ञान देना है। शारीरिक-वृद्धि के अनन्तर कन्या को सामाजिक व्यवहार, मिलना-जुलना, गाना-बजाना आदि आना चाहिए। इसके बाद कन्या का तीसरा पति 'अग्नि' है। 'अग्नि' का अभिप्राय स्पष्ट है। कन्या की शारीरिक तथा मानसिक वृद्धि के बाद उसमें मनोभाव (Emotions) भी उत्पन्न हो जाते हैं--प्रेम की 'अग्नि' प्रदीप्त हो जाती है। इसके बाद कन्या का विवाह मनुष्य से किया जाय --यह वेद का आदेश है। इस आदेश में कन्या की कोई ख़ास आयु निश्चित नहीं की गई। जिस समय उसकी आयु परिपक्व अवस्था पर पहुँचे, उस समय उसका विवाह हो। गर्म देशों में कन्याएँ शीघ्र विवाह के योग्य हो जाती हैं। सर्द देशों में २० वर्ष की आयु का विवाह भी बाल-विवाह समझा जाता है। इसीलिए वेद ने आयु की कोई सीमा नहीं बाँधी, परन्तु एक नियम का विधान कर दिया है। यह नियम जिस समाज में लाग होगा, उसमें बाल-विवाह की प्रथा नहीं रह सकती।

वैदिक-काल में आत्मिक-विकास की दृष्टि से भी स्त्रियाँ पुरुषों के साथ एक ही क्षेत्र में विचरण करती थीं। बृहदारण्यक (२।४) में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का संवाद आता है। याज्ञवल्क्य अपनी संपत्ति तथा घर आदि छोड़कर स्वयं जंगल में जाकर अध्यात्म-विद्या में अपना समय देना चाहते हैं, वे मैत्रेयी से अपना विचार कहते हैं। 'मैत्रेयी'—शब्द का भी यही अर्थ प्रतीत होता है कि वह याज्ञवल्क्य की 'मित्र' थी, उसकी दासी न थी। मैत्रेयी कहती है—यदि संसार का सारा धन एकत्रित करके उसको दे दिया जाय, तब भी वह घर रहने को

तैयार न होगी। उसका यह विचार जानकर याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को अपने साथ ले जाने से पूर्व आध्यात्मिक उपदेश देते हैं। इस ऊँचे उपदेश को जिस सरलता के साथ मैत्रेयी हृदयंगम कर लेती है, उससे मैत्रेयी के मानसिक और आत्मिक विकास की ऊँची अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

आध्यात्मिक ज्ञान रखने के साथ-ही-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी स्त्री का पुरुष के बराबर ही स्थान था। कोई यज्ञ स्त्री के भाग लेने के बिना पूरा न समझा जाता था। रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक पर, सीता के परित्याग के पश्चात्, जब राजसूय-यज्ञ होने लगा, तो सीताजी का यज्ञ में होना अत्यावश्यक समझा गया। उस समय सीताजी की स्वर्ण-मूर्ति को उनके स्थान पर रखकर यज्ञ की पूर्ति की गई थी। प्राचीन-काल में राजा के अभिषेक के साथ उसकी रानी का भी राज्याभिषेक करने की प्रथा रही है। विवाह के समय माता-पिता दोनों मिलकर कन्या-दान करते थे। यह प्रथा आज तक अविकल रूप से चली आरही है। हिंदू-धर्मशास्त्रों के अनुसार अब भी कन्या-दान के लिए माता का रहना आवश्यक होता है। अकेले पिता को कन्या-दान का अधिकार नहीं। वेदों का तथा उसके बाद प्राचीन भारत का युग स्वतंत्रता का युग था। उसमें कोई किसी से न ऊँचा था, न नीचा; स्त्री-पुरुष समान थे। स्त्रियों को चारों दिशाओं में उन्नति करने का पूरा अवसर मिलता था, इसलिए जिस क्षेत्र में भी स्त्रियाँ कदम बढ़ाती थीं, उसी को वे अपनी अपूर्व प्रतिभा के तेज से आलोकित कर देती थीं। जिस वस्तु को भी वे हाथ लगाती थीं, उसी पर वे अपने विलक्षण व्यक्तित्व की गहरी छाप छोड़ देती थीं। उनके अन्दर जहाँ विद्वत्ता, प्रतिभा, विचार-शक्ति तथा आत्मबल था, वहाँ उनके सारे व्यवहार में

एक प्रभावशाली व्यक्तित्व की विद्यमानता का अनुभव होता है। जब तक स्वतंत्रता तथा समानता का वायु-मंडल रहा, जब तक स्त्रियों की ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा को फलने-फूलने का अवसर मिलता रहा, तभी तक स्त्रियाँ समाज तथा देश के साहित्य पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालती रहीं, तभी तक वे अपने आत्म-बल तथा सतीत्व के द्वारा देश के आदर्शों को ऊँचा उठाती रहीं, और तभी तक वे अपनी विचित्र- संजीवनी-शक्ति से जाति के अन्दर जीवन-संचार करती रहीं।

२. मध्य-काल

[मध्य-काल का पूर्वार्ध]

स्त्रियों की वैदिक तथा प्राचीन समय में जो स्थिति थी, वह बहुत देर तक कायम न रक्खी जा सकी। वैदिक तथा प्राचीन काल में स्त्री को जिन उच्च, पवित्रतम भावों से देखा जाता था, वे धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगे। उस समय स्त्री 'देवी' थी, 'सम्राज्ञी' थी, पुरुष की योग्य सहचरी थी, पथ-प्रदर्शिका थी, जाति के भविष्य की निर्मात्री थी। पहले पुरुषों की दृष्टि में स्त्री यह सब-कुछ थी, किन्तु स्त्री-संबंधी यह उच्च आदर्शवादिता, स्त्री के संबंध में विचारों की यह ऊँची उड़ान, देर तक जारी न रह सकी। पुरुष की स्त्री के प्रति वह दृष्टि, जिसका परिणाम देश तथा समाज के लिए कल्याणकारी हुआ था, अब धीरे-धीरे विपरीत दिशा में बदलने लगी। समय के व्यतीत होते-होते ऊँची विचार-धारा और पवित्र आदर्श इतने बदले कि इन्होंने युग ही बदल दिया। भारतवर्ष अब धीरे-धीरे मध्य-युग की ओर कदम बढ़ा रहा था। नया युग था, नया दृष्टिकोण था। स्त्री अब भी दिव्य गुणों से युक्त थी, किन्तु जो कमज़ोरियाँ पहले स्त्री के आभूषण तथा गुण बने हुए थे, अब उसके अवगुण

बन गए। उसकी स्वाभाविक तथा शारीरिक दुर्बलताएँ जो पहले उसकी सरलता, शोभा, लालित्य तथा सौन्दर्य को बढ़ानेवाली थीं, अब उसकी बहुत बड़ी कमज़ोरी के रूप में सामने आने लगीं। स्त्री शरीर में पुरुष की अपेक्षा कमजोर थी, पुरुष बलवान् था; इसलिए पहले तो वह स्त्री की रक्षा करना अपना गौरव समझता था, परन्तु पीछे उसकी शारीरिक निर्बलता पुरुष को अपने ऊपर एक बोझ-सी प्रतीत होने लगी। कुछ दिनों बाद नया दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया। पुरुष स्त्री की रक्षा करता है, इसलिए उसके पुरस्कार-स्वरूप बदले में स्वयं ही उसने स्त्री के अधिकारों पर कब्ज़ा जमाना शुरू कर दिया। पुरुष को आर्थिक दृष्टि से भी स्त्री अपने ऊपर आश्रित दिखलाई देने लगी। पुरुष धन का उपार्जन करके लाता था, स्त्री घर में रहकर संतान का पालन तथा गृह-प्रबंध करती थी। दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे से कम महत्व के नहीं थे। किन्तु पुरुष का स्त्री के प्रति पहले का दृष्टि-बिन्दु अब बदल चुका था। अतः वही स्त्री, जो उसके लिए पहले 'सम्राज्ञी' थी, अब एक साधारण-सी आश्रिता पत्नी प्रतीत होने लगी। गृह-लक्ष्मी पाचिका के रूप में नज़र आने लगी, माता सेविका बन गई, जीवन और शक्तिप्रदायिनी देवी अब निर्बलताओं की खान बन गई। स्त्री, जो किसी समय अपने प्रबल व्यक्तित्व के द्वारा देश के साहित्य तथा समाज के आदर्शों को प्रभावित करती थी, अब परतंत्र, पराधीन, निस्सहाय, निर्बल बन चुकी थी। वैदिक-युग का दृष्टिकोण, जो स्त्री के प्रति दिव्य कल्पनाओं तथा पुनीत भावनाओं से परिवेष्ठित था, अब पूर्णतया बदल चुका था। असाधारण साधारण बन चुका था, अलौकिक लौकिक! आध्यात्मिकता का माप ही नीचे गिर रहा था।

अन्य ऊँचे आदर्शों का भी अधःपतन शुरू हो चुका था। इस अधःपतन के युग के प्रारम्भ में ही स्त्री की स्थिति काफ़ी बदल चुकी थी। स्त्री को न अब वैसी स्वतंत्रता थी, और न पहले-से अधिकार। पुरुष ने स्त्री को शारीरिक तथा धार्मिक दृष्टि से अपने ऊपर आश्रित पाकर उसके कई अधिकारों को छीन लिया था। स्त्री की कमज़ोरी पुरुष के उच्छृङ्खल होने का साधन बन गई थी। जब कोई जाति किसी आदर्श से एक बार गिर जाती है, तो वह गिरती ही जाती है। शक्ति का लोभ और अधिक बढ़ता गया, और यहाँ तक बढ़ा कि एक समय आया, जब स्त्री के ऊपर पुरुष का पूरा अधिकार हो गया। उसकी स्वतंत्र विचार-शक्ति, उसका व्यक्तित्व––सब-कुछ लोप हो गया। उसके लिए पुरुष ने नए आदर्श तथा नई मर्यादाओं का निर्माण किया, जिनसे स्त्री की सामाजिक तथा पारिवारिक दशा बहुत खराब हो गई। स्त्री की स्थिति मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में जो-कुछ रही, उसका प्रतिबिम्ब मनुस्मृति (९।२-३) में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वहाँ लिखा है––

"अस्वतंत्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ;
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्याः आत्मनो वशे।
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ;
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।"

––"स्त्रियों को परतंत्र रखना चाहिए। पुरुषों का कर्तव्य है कि स्त्रियों को रात-दिन अपने वश में रक्खें। कुमार अवस्था में स्त्री की पिता रक्षा करता है, युवावस्था में पति, वृद्धावस्था में पुत्र––स्त्री कभी स्वतंत्र रहने योग्य नहीं होती।"

मध्ययुग का प्रारंभ सब प्रकार से स्त्रियों की गिरावट का प्रारम्भ था। स्त्रियों को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाने लगा।

उनकी स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया गया। उन्हें पुरुषों के समान अधिकारों का उपभोग करने में अयोग्य समझा गया। उनके मानसिक तथा आत्मिक विकास के द्वारों पर ताला ठोक दिया गया। उनकी साहित्यिक उन्नति के मार्ग पर अनेकों प्रतिबंध लगा दिए गए। उपनयन के संस्कार से स्त्री को वंचित रखकर उसको सदियों के लिए अविद्या तथा अन्धकार के गढ़े में ढकेल दिया गया। जो स्त्रियाँ वैदिक तथा प्राचीन काल में धर्म की प्राण थीं, उन्हीं स्त्रियों को श्रुति का पाठ तक करने के अयोग्य घोषित कर दिया गया। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'—जैसे वाक्यों की मनगढ़ंत रचना करके स्त्रियों को मानवता के क्षेत्र से निकाल फेंका गया। स्त्रियों के लिए संस्कारों की भी कोई आवश्यकता न समझी गई। मनु (५।१५५) ने घोषणा कर दी कि स्त्री के लिए विवाह ही एक-मात्र संस्कार है। स्त्री को विवाह-संस्कार के अतिरिक्त और किसी संस्कार की ज़रूरत नहीं—"वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।" मनु के आठ प्रकार के विवाहों में आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाह भी गिने गये हैं। इनक अनुसार, यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को चुराकर भी ले जाय, तब भी वह उसका पति-रूप में ग्रहण करे, चाहे वह स्त्री उस व्यक्ति को घृणा की दृष्टि से ही क्यों न देखती हो। विवाहों के इस प्रकार के वर्गीकरण से यही प्रतीत होता है कि उस समय स्त्री की स्थिति बड़ी अस्थिर तथा नीची बना दी गई थी। बौद्ध-धर्म-पुस्तकों से भी उस समय की स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बौद्ध-संघों में पहले तो स्त्रियों को लेने की मनाही थी। पीछे जब स्त्रियों को भिक्षुणी बनाया भी जाने लगा तब भी उनके लिए भिक्षुओं से कहीं अधिक कड़े नियमों का निर्माण किया गया। बौद्ध-पुस्तक चूल-वग्ग में

लिखा है कि बुद्ध की माता महा प्रजापति गौतमी ने तीन बार संघ में प्रवेश किए जाने की आज्ञा माँगी, किन्तु तीनों बार उसे इन्कार कर दिया गया। बहुत-कुछ कहने-सुनने के उपरान्त जब उसे प्रविष्ट होने की आज्ञा मिली, तब कड़े-कड़े आठ नियम स्त्रियों के प्रवेश के लिए बनाए गए। उनमें से एक यह भी था कि वृद्धा-से-वृद्धा १०० वर्ष की आयु वाली भिक्षुणी को भी उसी दिन के नव-दीक्षित भिक्षु के सामने अभिवादन तथा प्रत्युत्थान करना चाहिए। एक दूसरा नियम यह था कि भिक्षुणी किसी प्रकार भी भिक्षु को गाली न दे; और न कोई भिक्षूणी किसी भिक्षु से बात करे। यद्यपि महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को भी भिक्षु-जीवन स्वीकृत करने की अनुमति दे दी थी, किन्तु वे इसको अच्छा न समझते थे। स्त्रियों के संघ में प्रवेश करने का क्या परिणाम होगा, इस संबंध में उन्होंने स्वयं अपने शिष्य आनन्द से इस प्रकार कहा था—"हे आनंद ! यदि तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म-विषय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं, तो यह धर्म चिरस्थायी होता; सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। लेकिन क्योंकि, आनंद, स्त्रियाँ प्रव्रजित हुईं, अतः अब यह धर्म चिरस्थायी न होगा। सद्धर्म ५०० वर्ष तक ही टिक सकेगा।" आगे चलकर बुद्ध ने स्त्री-भिक्षुणियों की रोग से उपमा दी है। इस सबसे यह स्पष्टतया प्रकट होता है कि स्त्री की स्थिति इस समय काफ़ी गिर चुकी थी। इस समय के साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इस समय तक वैदिक-काल का एक-पत्नी-व्रत का आदर्श लुप्त हो चुका था, उसके स्थान में बहु-विवाह का खुल्लम-खुल्ला प्रचार हो गया था। बहु-विवाह के बहुत-से दृष्टांत बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। महावंश के अनुसार शुद्धो-दन का विवाह माया और महामाया नाम की दो बहनों से

हुआ था। राजा बिंबसार की सोलह हज़ार रानियों का जातक-कथाओं में ज़िक्र आता है। उदयन की भी अनेक रानियाँ थीं।

वैदिक-युग में स्त्रियाँ खुले, स्वतंत्र, ऊँचे, पवित्र वायु-मंडल में विचरती थीं। उस वायु-मंडल में न तो ऊँच-नीच का भेद-भाव था, और न संदेह तथा अविश्वास के नीचे विचार। किन्तु मध्य-युग का वातावरण तंग, घुटा हुआ, विषमता के विष से भरा हुआ, अविश्वास-पूर्ण तथा संकुचित दृष्टिकोण से दूषित था। इस युग में जो सबसे बड़ा परिवर्तन स्त्री की स्थिति में हुआ, वह उसके कार्य-क्षेत्र का सीमित हो जाना था। स्त्री की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक—सब प्रकार की उन्नति को रोककर उसकी स्थिति घर में परिमित कर दी गई। पति की सेवा करना उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य निर्धारित कर दिया गया। "पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोग्निपरिष्क्रिया।"—पति-सेवा ही स्त्री के लिए मानो गुरु के घर में रहकर शिक्षा प्राप्त करना है, और उसका काम-धंधा करना ही उसका मानो यज्ञ या अग्निहोत्र है—ऐसे विचारों ने इस समय जन्म ले लिया।

किन्तु काले मेघों के अन्दर भी विद्युत्-रेखा झिलमिला जाती है। मध्य-युग की गिरावट के बीच में भी हमें पुराने, उच्च, पवित्र आदर्शों की झलक कहीं-कहीं दिखलाई पड़ जाती है; तभी तो जिस मनुस्मृति में यह लिखा है कि स्त्रियाँ विश्वास करने योग्य नहीं, स्वतन्त्र रहने लायक़ नहीं, उसी मनुस्मृति में स्त्री को पूज्य-बुद्धि से, आदर वा सम्मान की दृष्टि से देखने का वर्णन भी मिलता है। मनु (३।५६) का कहना है—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।"—जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है, उस स्थान में देवता वास करते हैं। मनु के इस वाक्य में इसी पुराने वैदिक आदर्श की झलक है, जिसे सामने रखकर एक

समय भारतवर्ष, स्त्री को 'देवी', 'सम्राज्ञी' के रूप में देखता था। मध्य-युग की गिरावट के समय में भी अर्ध-नारीश्वर का भाव पाया जाता है। शिव तथा पार्वती का जोड़ा स्त्री की स्थिति को लक्ष्य में रखकर ही बनाया गया था। परन्तु इस समय की धार्मिक कल्पना में वैदिक विचार का प्रतिबिम्ब-मात्र ही शेष रह गया था, असली विचार लुप्त हो रहा था।

बौद्ध-काल की पुस्तकों को गम्भीर दृष्टि से देखने से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि मध्य-युग के पूर्वार्ध में स्त्रियों की स्थिति यद्यपि वैदिक-युग की अपेक्षा बहुत अधिक गिर चुकी थी, किन्तु फिर भी इतनी गिरावट नहीं हुई थी, जो उस युग के उत्तरार्ध में दिखाई देती है। इस समम तक यद्यपि स्त्रियों की विद्वत्ता, पाँडित्य तथा स्वतन्त्र विचार-शक्ति का पर्याप्त मात्रा में ह्रास हो चुका था, तथापि उनमें अलौकिक श्रद्धा, आत्मबल तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व का अभी तक कुछ अंश बाकी बचा हुआ था। उसी श्रद्धा, बल और प्रभाव के द्वारा उस समय की स्त्रियाँ महात्मा बुद्ध-जैसे महान् व्यक्ति को बाधित कर सकी थीं कि उनको धर्म-संघों में प्रविष्ट होने की आज्ञा मिले। संघ में ५०० के लगभग स्त्रियों ने स्थान प्राप्त कर लिया था। और, जिस योग्यता के साथ उनमें से कुछ ने संघ के नियमों को पूरा किया, और संघ के उद्देश्यों का समस्त देश में प्रचार किया, इससे उनकी शिक्षा तथा उच्च कोटि की योग्यता का पर्याप्त परिचय मिलता है। बौद्ध-ग्रन्थों में अनेकों विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है, जो बुद्धिमती, सुशिक्षिता और प्रतिष्ठा-युक्त थीं। संयुक्त-निकाय में सुक्का नाम की एक महिला का नाम आता है, जिसकी वक्तृत्व-शक्ति अपने समय में अद्वितीय समझी जाती थी। जिस समय वह राजगृह में व्याख्यान देने गई, तो सम्पूर्ण नगर-निवासियों

को उसके व्याख्यान की सूचना इस प्रकार दी गई—"सुक्का अमृत-वर्षा कर रही है। जो लोग बुद्धिमान् हैं, वे जावें और अमृत-रस का पान करें।" श्रद्धा, खेमा, विशाखा आदि कई विदुषी महिलाओं का परिचय भी बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है। मण्डन मिश्र की स्त्री विद्याधरी का शङ्कराचार्य-जैसे विद्वान् के सम्मुख मध्यस्थ बनना और फिर उनसे शास्त्रार्थ करना भी सिद्ध करता है कि मध्य-युग में स्त्रियों ने अपने सब अधिकारों को नहीं छोड़ा था।

बौद्ध-काल के अनन्तर जब हम राजपूतों के समय की तरफ़ आते हैं, तब भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि स्त्री-जाति का भाग्य-सूर्य यहाँ भी अभी पूर्णतया अन्तर्हित नहीं हो गया था। अब भी प्रकाश की अंतिम रश्मियाँ राजपूताने की मरु-भूमि को अपने तेज से आलोकित कर रही थीं। यद्यपि सूर्यास्त समीप आ रहा था, तथापि इस गोधूलि की टिमटिमाहट में स्त्री-जाति का भाग्य-सूर्य अंतिम बार चमक उठा था। राजपूत-नारियों के देश-प्रेम, श्रद्धा-भक्ति तथा वीरता ने अस्ताचल की ओर जाते भाग्य-सूर्य में एक बार पुनः ज्योति का संचार किया था। रानी दुर्गावती का दृष्टांत किससे छिपा है। वह गढ़-प्रदेश की छोटी-सी रानी थी। उसके पुत्र पर अकबर ने आक्रमण कर दिया। अपने छोटे-से शिशु की रक्षा करने के लिए रानी दुर्गावती ने अपनी सेना तैयार की, और स्वयं उसकी सेनापति बनी। यद्यपि वह युद्ध में परास्त हो गई, तथापि उसका भारत के सम्राट् के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत हो जाना, उस गिरावट के समय भी, स्त्री-जाति के अदम्य साहस पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। जिस समय उसने देख लिया कि वह जीत न सकेगी, उस समय अपने को शत्रुओं के हाथ में छोड़ने की अपेक्षा उसका आत्म-

घात कर लेना सिद्ध करता है कि स्त्रियों में आत्म-बलिदान का भाव किस उच्च कोटि में वर्तमान था। इसी प्रकार थानेसर-युद्ध में, चित्तौड़ की लड़ाई में जिस समय राजपूत-देवियों को किले के गिरने के समाचार मिले, उस समय किस आत्म बलि-दान के भाव से चार-पाँच सौ राजपूतनियाँ केसरिया पहनकर जलती चिताओं में जा बैठी थीं। परास्त होते हुए सिपाहियों को उत्साहित करना, भागते हुओं को फिर से वापस कर देश के लिए मर मिटने की ललकार देना, पुत्र को, पति को, भारत माता के शुभ्र मस्तक पर कलंक का टीका न लगने देने का आदेश करना उस समय की वीरांगनाओं का सहज स्वभाव था। ये कथाएँ भारत के मेघाच्छन्न मध्यकाल में—उस काल में, जब स्त्री-जाति अपने ऊँचे पद से गिराई जा रही थी, जब उसके अधिकार चारों तरफ़ से छीने जा रहे थे—विद्युत् की रेखाओं का काम कर रही हैं। स्त्रियों की स्थिति गिर रही थी, शायद बहुत तेज़ी से गिर रही थी, किन्तु वैदिक-आदर्शों के वर्तमान युग की अपेक्षा कुछ अधिक नज़दीक होने के कारण उस समय की झलक इस युग में साफ़ तौर पर नज़र आ रही थी। सनातन वैदिक-युग के उच्च, सुदृढ़ आदर्शों की इमारत करीब-करीब ढह चुकी थी, फिर भी उसका टूटा-फूटा ढाँचा, उसके खँडहर अब भी मौजूद थे।

[मध्य-काल का उत्तरार्ध]

किन्तु खँडहर आख़िर खँडहर ही थे। समय की कड़ी चपेट को वे कब तक सहन कर सकते थे। शीघ्र ही वह समय आया, जब कि ऊँचे आदर्शों के बचे हुए भग्नावशेष भी धराशायी हो गए। स्त्री-जाति का भाग्य-सितारा बढ़ते हुए अन्धकार में छिप गया, स्त्री-जाति की अधोगति चरम सीमा तक पहुँच गई। उनके इस वर्तमान ने उनका भविष्य भी अंधकार में ढक लिया।

ऐतिहासिक-दृष्टि से यह युग मध्य-युग का उत्तरार्ध कहा जा सकता है। मध्य-युग के उत्तरार्ध को ऐतिहासिक-दृष्टि से काला-युग कहना चाहिए। स्त्रियों पर समाज के अत्याचार और अन्याय ने इस युग को इतना काला कर दिया कि इस समय के इतिहास के पन्ने समाज की स्वेच्छाचारिता की कालिमा से सदा काले रहेंगे। इस समय भारतीय स्त्री को मनुष्य की कोटि में नहीं गिना जाता था। उसके सब अधिकार छीन लिये गए थे। उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व सब प्रकार से नष्ट हो चुका था। समाज में तो उसकी स्थिति ही नहीं, परिवार में भी उसकी स्थिति गिर चुकी थी। एक स्त्री के होते पति अनेकों शादियाँ कर सकता था। स्त्रियाँ पैर की जूती के समान समझी जाती थीं। जिस प्रकार पैर की जूती पुरानी होने पर बदलने योग्य हो जाती है, इसी प्रकार एक स्त्री के पुराना हो जाने पर दूसरी को उसका स्थान मिल जाता था। कहाँ यह निकृष्ट कोटि की विचार-धारा, और कहाँ वैदिक-काल की वह उच्च श्रेणी की विचार-धारा, जिसमें स्त्री में 'देवी' तथा 'सम्राज्ञी' का स्वरूप देखा गया था। दोनों में ज़मीन-आसमान का अंतर था। इस समय घर के अन्दर स्त्री की स्थिति पतन की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। स्त्री मनुष्य है, यह लोगों ने समझना ही छोड़ दिया था। स्त्री पुरुष के लिए थी, वह उसकी भोग्य वस्तु थी; विनोद की सामग्री थी; पशु के तुल्य पराधीन थी। उस समय के विद्वान् तथा भावुक कवि तुलसीदास के निम्न-लिखित कुवाक्यों से उस काल के स्त्री-जाति के प्रति प्रचलित विचारों का दिग्दर्शन भली भाँति हो जाता है। तुलसीदास जी लिखते हैं—"ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी; ये सब ताड़न के अधिकारी।" शिक्षा तो स्त्रियों में लुप्त हो चुकी थी, क्योंकि "स्त्री

शूद्रौ नाधीयाताम्" का पूरे वेग के साथ प्रचार हो रहा था। बाल-विवाह पूरी तरह फैल चुका था। "अष्ट वर्षा भवेद् गौरी नव वर्षा तु रोहिणी; दश वर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला" --के नाद से भारत का कोना-कोना गूँज उठा था। छोटी-से-छोटी कन्या का विवाह कर देना माता-पिता के लिए सम्मान-रक्षा का प्रश्न हो गया था। दुधमुंही बच्चियों के विवाह प्रतिदिन रचे जाते थे। जब एक-दो वर्ष की बालिका वधू बनने लगे, तो आठ-दस वर्षवाली कन्या-विधवाओं की भी कमी न रही। पहले जब भारतीय रमणी सुशिक्षिता थी, तब वह उच्च पातिव्रत्य के आदर्श को समझती थी। जब अनेकों उच्च कुल की स्त्रियाँ पति के मरने पर जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु को अच्छा समझती हुई अपने को जीवित ही जला देने लगीं। पहले सती-प्रथा का आधार स्वेच्छा थी, पीछे बाधित होकर सती हो जाने की प्रथा चल पड़ी। अनेकों अबोध बालिकाओं को पति के साथ जीवित जलाया जाने लगा। एक ओर भारत की दुधमुंही बच्चियों का विवाह-बंधन, पर्दे की बेड़ियाँ तथा अविद्या का अंधकार समाज को रसातल की ओर खींच रहे थे, दूसरी ओर विधवाओं के रुदन तथा चिता पर बैठी अबोध बालिकाओं की तीव्र चीत्कार से भारत का कोना-कोना व्याकुल हो उठा। स्वेच्छाचारिता तथा अमानुषिकता की पराकाष्ठा हो गई। स्वार्थ, अन्याय तथा अत्याचार जब अन्तिम सीमा पर पहुँच जाते हैं, तो इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ होती है। मानव-समाज की इन अमानुषिक प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ भी शीघ्र प्रतिक्रिया का प्रारंभ हो गया।

३. वर्तमान-काल

इन्हीं अत्याचारों के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में वर्तमान युग का प्रारंभ हुआ। सबसे प्रथम राजा राममोहन रॉय ने सती-प्रथा के विरुद्ध आवाज़ उठाई। धर्म के नाम पर अबोध बाल-विधवाओं को जीवित जला देना इस समय की मानव-समाज की अनेकों क्रूरताओं में से एक थी, परन्तु यही भारतीय समाज के ऊपर कलंक का टीका लगा देने को पर्याप्त थी। राजा राममोहन रॉय ने यह बात अनुभव की, और भारत-सरकार को सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बनाने को विवश किया। राजा राममोहन रॉय ने जहाँ सती-प्रथा को रोका, वहाँ स्त्रियों के लिए शिक्षा का भी आयोजन किया। किन्तु राजा राममोहन रॉय और ब्रह्म-समाज ने जिस शिक्षा का भारतीय महिलाओं के लिए प्रबन्ध किया था, वह पश्चिमी शिक्षा-पद्धति पर थी, जो आदर्श उनके सामने रक्खे थे, वे पश्चिमी सभ्यता के रंग में रँगे हुए थे। उस समय की प्रचलित प्रगाढ़ अविद्या को दूर करने के लिए इनके अतिरिक्त ईसाई-मिशनरियों और सरकार द्वारा भी अनेकों प्रयत्न हुए। हर बड़े ज़िले में कन्या-पाठशालाएँ खोली गईं, परन्तु इस सभी का परिणाम भारतीय स्त्री-समाज को भारतीय आदर्शों से दूर ले जाना होता रहा। कुछ समय के लिए तो इस आर्य-भूमि के पुनीत उच्च-आदर्श पश्चिमी सभ्यता की चमक-दमक से आँखों से ओझल होते दिखाई पड़ने लगे। इस समय आर्य-समाज ने लड़कियों के लिए प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षा देने पर ज़ोर दिया। ब्रह्मसमाज तथा सरकारी ईसाई-स्कूलों से शिक्षा का प्रचार तो बढ़ने लगा था, परन्तु उनका रुख़ पश्चिमीय ढंग का हो गया था। आर्यसमाज ने इस प्रतिक्रिया को भारतीय भावना का रंग दे दिया। जो

प्रतिक्रिया अब से पचास वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई, वह वैसे ही वेग से अब भी जारी है। अनेक समाज-सुधारकों ने देश के कोने-कोने से कुरीतियों को मिटाने की प्रतिज्ञा ले ली है। सनातन धर्म-सभाओं की तरफ़ से भी स्त्री-समाज में शिक्षा-प्रचार की आयोजनाएँ क्रियान्वित की जा रही हैं। बाल-विवाह-निवारक बिल उस समय की 'बड़ी-व्यवस्थापिका-सभा' में पास हुआ। सर गंगाराम-जैसे उदार धनिकों के परिश्रम से अनेक स्थानों पर विधवा-सहायक-आश्रम खुल गए। देश या समाज के किसी कोने में भी यदि अन्याय की हल्की-सी रेखा दिखलाई देती है, तो उसे मिटाने के लिए देश का हर-एक उदार विचारक व्याकुल होता दिखाई देता है। पिछले दिनों पहले 'हिन्दू-कोड-बिल' के नाम से और बाद में खंड-खंड रूप में जो सुधार राज्य-सभा तथा लोक-सभा में रखे गए उनका सूत्रपात अब से काफ़ी पहले हो चुका था। हरीसिंह गौड़ ने तलाक़-संबंधी विल अपने समय की व्यवस्थापिका सभा में रक्खा था। स्त्रियों का पैत्रिक संपत्ति में अधिकार-प्राप्त करने का प्रश्न भी देश के उन्नत मस्तिष्कों को आन्दोलित करता रहा। वर्तमान-युग को यदि प्रतिक्रिया का युग कहें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। स्त्री-जगत् के अन्दर भी प्रतिक्रिया की भावना ने तीव्र रूप में प्रवेश कर लिया है। अन्याय, अत्याचार और असमानता के भावों को स्त्रियाँ अब बरदाश्त नहीं कर सकतीं। स्त्रियों की पराधीनता का मूल-कारण स्त्री का पुरुष पर आश्रय और अवलंबन था, इसलिए अब स्त्रियाँ हर दृष्टि से स्वतंत्र होना चाहती हैं। पढ़ी-लिखी लड़कियों में आर्थिक दृष्टि से भी स्वतंत्र होने की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। हर क्षेत्र में स्त्रियाँ बढ़ रही हैं। अब वे केवल अपने ही प्रश्नों को हल करना नहीं चाहतीं, किन्तु

पुरुषों के साथ मिलकर, समाज, जाति तथा देश के विस्तृत प्रश्नों के हल करने में भाग लेना चाहती हैं। साम्य तथा स्वातंत्र्य की यह भावना शिक्षित स्त्रियों तक ही सीमित नहीं, किन्तु अशिक्षित स्त्रियाँ भी देश के भाग्य-निर्माण में हिस्सा लेना अपना अधिकार समझने लगी हैं। महात्मा गान्धी के चलाये हुए राजनीतिक आन्दोलन में छोटी-बड़ी, अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित हर प्रकार की स्त्रियों का भाग लेना उनकी इसी मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब है। सदियों से सोई हुई स्त्री-जाति की प्रसुप्त प्रतिभा का जागृत होना, स्वतंत्रता तथा स्वावलम्बन के भावों का उदय होना देश तथा समाज के कल्याण के सूचक हैं, क्योंकि जागृत, उन्नति पथ पर अग्रसर, स्वतंत्रता-प्रिय महिला-समाज को साथ लेकर ही समाज, जाति तथा देश चौमुखी उन्नति कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

४. भविष्य

स्वतंत्रता की भावनाएँ किसी भी जाति के लिए उसकी अमूल्य निधि हैं। स्वतंत्र वायुमण्डल में साँस लिए बग़ैर कोई जाति पनप नहीं सकती। सच्ची स्वतंत्रता से ही समाज के अन्दर व्यवस्था, सुख तथा शान्ति की स्थापना हो सकती है। कई लोगों का कहना है कि आजकल की स्वतंत्रता की मनोवृत्ति अनुचित प्रतिक्रिया की भावना का परिणाम है। यदि वास्तव में यह ठीक है, तो भी यह स्वाभाविक है, और इस कारण स्त्री-जगत् की स्वतंत्र होने की भावनाएँ दूषित नहीं कही जा सकतीं। स्वतंत्रता अपने-आप में कोई दोष नहीं है, किन्तु यदि यह स्वतंत्रता की लहर पश्चिमी ढंग पर ही बहती रही, तो अवश्य यह भारतीयसंस्कृति के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। स्वतंत्रता के पूर्वीय और

पश्चिमीय आदर्शों में बहुत भेद है। पश्चिम में स्वतंत्रता अमर्यादित, अनियंत्रित तथा ऊँचे आदर्शों से रहित है। वहाँ की स्वतंत्रता एक आँधी के समान है, जिसमें स्त्रियों के स्वाभाविक गुण—धर्म, लज्जा, विनय, आत्मत्याग—बहे जा रहे हैं। वहाँ जो स्त्री स्वेच्छा से आज अपना पति चुनती है, वह कल उसे तलाक़ देने की सोच सकती है। आत्मिक-सौन्दर्य को ठुकराकर शारीरिक-सौन्दर्य का प्रदर्शन ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। यह स्वतंत्रता नहीं, उच्छृङ्खलता है। भारत में भी उच्च शिक्षित स्त्री-समाज की एक अच्छी संख्या इसी ढंग की स्वतंत्रता की अनुगामिनी बन रही है। वे पश्चिम के आदर्शों पर अंध-विश्वास रखकर उनका अनुसरण कर रही हैं। इसी अनुकरण-प्रियता के जोश में अनेक बहनों ने पश्चिमी ढंग की ही वेश-भूषा शुरू कर दी है। पश्चिमी ढंग पर उन्होंने अपनी स्वतंत्रता को विलास-प्रियता के बढ़ाने में लगाया है। जो स्वतंत्रता मर्यादा के भीतर रहने की अपेक्षा अमर्यादित होना सिखाती है, जो स्वतंत्रता आत्मोन्नति से विमुख करके विलास-प्रियता सिखाती है, जो स्वतंत्रता अपनी संस्कृति तथा अपने आदर्शों को ठुकराकर दूसरों का अंधे होकर अनुकरण करना सिखाती है, वह वास्तविक स्वतंत्रता नहीं, स्वतंत्रता की छाया है, स्पष्ट शब्दों में उच्छृङ्खलता है। ऐसी स्वतंत्रता भारतीय उच्च आदर्शों के विपरीत है।

योरप में समाज का संगठन ऐसा है कि वहाँ कुमारी लड़की को पिता, भाई तथा अन्य संबंधियों के होते हुए भी अपनी आजीविका की चिन्ता शुरू कर देनी पड़ती है। इस कारण वहाँ की उच्च-शिक्षा का उद्देश्य अधिकतर धनोपार्जन हो गया है। इस उद्देश्य को सामने रखकर स्त्रियाँ आजीविका के क्षेत्र में भी पुरुषों के मुक़ाबिले में घुस पड़ी हैं। जिस समाज में स्त्री और

पुरुष प्रतिस्पर्धी के रूप में हों, वहाँ उन दोनों के आदर्शों का एकीकरण कैसे हो सकता है ? इसी कारण वहाँ के कुटुम्ब तथा समाज में शाँति और सुख दोनों का अभाव है। पुरुष और स्त्री की स्पर्धा ने दोनों में ही स्वार्थ को उग्र रूप में प्रगट कर दिया है। न पत्नी पति के लिए स्वार्थ-त्याग कर सकती है, न पति पत्नी के लिए। माता तथा पुत्र तक में स्वार्थ की दीवार उठ खड़ी हुई है। यह माना कि योरप की स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं, किन्तु आर्थिक स्वतंत्रता पाकर जीवन को सरस बनाने वाले आत्म-समर्पण के भाव को खो देना गृहस्थ को कहाँ तक सुखी बना सकता है ? स्त्री की सामाजिक स्वतंत्रता ने भी वहाँ ऐसा रास्ता पकड़ लिया है, जिससे पारिवारिक सुख और शांति दूर होती जा रही है। स्त्री की स्वतंत्रता ने योरप के समाज में मृदुता के स्थान में कटुता, शांति के स्थान में अव्यवस्था फैला दी है। वहाँ के समाज में शांति तथा व्यवस्था की किस प्रकार स्थापना की जाय—योरप के विचारकों के सामने यह एक प्रश्न है, जिसे हल करने में वे अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ ख़र्च कर रहे हैं। वहाँ की सामाजिक अवस्थाओं के विरुद्ध योरप में प्रतिक्रिया का प्रादुर्भाव हो चला है। ऐसी अवस्था में क्या भारत का शिक्षित स्त्री-समाज पाश्चात्य बहनों के जीवन का अनुकरण ही करेगा, या जीवन-संग्राम में किसी नवीन मार्ग का निर्माण करेगा ?

अभी तक तो यही दिखलाई पड़ रहा है कि भारत में स्त्री-शिक्षा पश्चिमीय आदर्शों की तरफ़ ही जायगी, और कोरे आर्थिक दृष्टिकोण से जीवन में जो निस्सारता तथा कर्कशता आ सकती है, वह यहाँ के जीवन में भी आएगी। संभवतः स्त्री के शिक्षित होकर आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाने पर उसका जीवन वर्तमान जीवन से तो बेहतर हो जायगा, परन्तु उस जीवन

में भी स्त्री को सुख तथा शांति प्राप्त नहीं होगी। स्त्री के आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने के साथ-साथ उसका दृष्टिकोण स्वार्थमय न हो जाय, वह जीवन के गहरे तथा असली रूप को न भूल जाय, वह आत्म-समर्पण की उच्च भावनाओं के अयोग्य न हो जाय, इसका हमें भरसक प्रयत्न करना होगा। हम लोग इस बात को तो अनुभव करने लगे हैं कि स्त्री-जाति की मुसीबतों का एकमात्र कारण उसका आर्थिक दृष्टि से परतंत्र होना है, परंतु शायद हम इसके साथ-साथ इस बात को अभी नहीं अनुभव कर रहे हैं कि स्त्री के प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में घुस पड़ने से उसके दृष्टिकोण के इतना अधिक स्वार्थमय हो जाने की संभावना है कि वह उन चीज़ों को भी आर्थिक दृष्टि से ही देखने लगेगी, जिन्हें अब तक वह केवल स्त्री की दृष्टि से ही देखती रही है। स्त्री स्वार्थ-त्याग, आत्म-समर्पण तथा प्रेम की प्रतिमा है। इन भावों के सम्मुख आर्थिक स्वतंत्रता एक बहुत तुच्छ वस्तु है। अगर आर्थिक स्वतंत्रता पाकर जीवन की इन निधियों को खो दिया, तो कुछ नहीं पाया। इन आदर्शों को जीवन में पाकर जो सुख तथा शांति मिल सकती है, वह संसार की कशमकश में पड़कर और बहुत-सा रुपया कमाकर नहीं मिल सकती। स्त्री-जाति का दृष्टिकोण वर्तमान सभ्यता के प्रभाव से बदलता जा रहा है। प्रकृतिवाद के जाल में फँसकर रुपए-पैसे को ही सब-कुछ समझा जा रहा है। यह पुरुषों की बीमारी स्त्रियों में भी फैलती जा रही है। स्त्री-जाति को इससे बचाने की आवश्यकता है। जीवन के हर-एक पहलू को आर्थिक दृष्टि से देखने के बजाय प्रेम, त्याग, सेवा, निस्वार्थ भाव तथा आत्मोत्सर्ग की दृष्टि से जितना स्त्री-जाति देख सकती है, उतना पुरुष-जाति नहीं। स्त्री की इस विशेषता को खो देना एक अपूर्व संपत्ति को लुटा देना है। स्त्री

को आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र कर देना बहुत अच्छा है, परन्तु स्त्री-जाति का भविष्य उसके आजीविका की दृष्टि स स्वतंत्र हो जाने में ही नहीं है, उसका भविष्य आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भी स्त्री-जाति के उन स्वाभाविक उच्च आदर्शों को बनाए रखने में है, जो आदर्श जीवन को जीवन का रूप दे सकते हैं, और जिन आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने में स्त्री-जाति स्वाभाविक तौर पर अत्यधिक योग्य है।

२

युग की समस्याएँ और नारी के गुण

पिछले अध्याय में हम अभी-अभी लिख आये हैं कि पुरुष की अपेक्षा नारी के कुछ विशिष्ट गुण हैं और उन गुणों को भूलकर सिर्फ़ पुरुष के साथ आर्थिक-जीवन की प्रतिस्पर्धा में पड़कर नारी अपने यथार्थ रूप को खो देगी। हमें देखना है कि नारी के वे विशिष्ट गुण क्या हैं और किस प्रकार आज वह उन गुणों से विश्व की समस्याओं को हल करने में अपना हाथ बँटा सकती है?

१. विचार-धाराओं का संघर्ष

संसार इस समय दो गुटों में बँटा हुआ है। एक तरफ़ अमरीका, इंगलैण्ड आदि पूंजीपति देश हैं; दूसरी तरफ़ रूस, चीन आदि साम्यवादी देश हैं। दोनों को एक-दूसरे से वह ईर्ष्या-द्वेष नहीं, जो प्राचीन-काल के राजा-महाराजाओं को एक-दूसरे से हुआ करता था। उस समय एक-दूसरे की भूमि, सम्पत्ति और राज्य हड़पने के लिए देश बावले हो जाते थे। राज्य का विस्तार ही उस समय हर शासन का ध्येय होता था। आज समस्या ने दूसरा रूप धारण कर लिया है। राजा-महाराजाओं का स्थान भिन्न-भिन्न देशों की जनता ने ले लिया है। लेकिन आज एक देश की जनता दूसरे देशों की भूमि, सम्पत्ति, राज्य आदि को हड़प करने के लिए इतनी उत्सुक नहीं जितनी अपनी विचार-धारा को फैलाने के लिए उत्सुक है। अमरीका रूस को नहीं, रूसी विचार-धारा को ख़तम करना चाहता है; रूस अमरीका

को नहीं, अमरीकी विचार-धारा को समाप्त कर देना चाहता है। विचारों के इस संघर्ष के कारण सब देश बेचैन हैं, और इसी बेचैनी के कारण आज विश्व के नभोमण्डल में विषम समस्याओं के बादल नए-नए रूप धारण कर रहे हैं। इन दोनों विचार-धाराओं का आधार हिंसा है। यूरोप और अमरीका के देश मानव-जीवन में से युद्ध को बिल्कुल निर्वासित करने के लिए 'संयुक्त-राष्ट्रों' का निर्माण कर लेने के बाद भी समझ रहे हैं कि अगर और किसी तरह फ़ैसला नहीं होता तो आखिरी बार एटम-बंबों से लड़ कर ही वे अपनी विषम तथा उग्र विचार-धाराओं का अन्तिम फ़ैसला कर सकते हैं। पश्चिम के विचारक सोच रहे हैं कि युद्ध को सुलहनामे से रोका जा सके, हिंसा को अहिंसा से दूर किया जा सके, तो अच्छा, नहीं तो युद्ध का, हिंसा का इलाज वे भयंकर हिंसा से करने वाले हैं और ऐसा युद्ध छेड़ने वाले हैं, जैसा न कभी छिड़ा, न छिड़ेगा।

२. संघर्ष का हल

इस प्रकार की दो विचार-धाराएँ भारतवर्ष में भी चल रही हैं—पूंजीवादी भी और साम्यवादी भी—परन्तु इन दोनों का आपस में निपटारा कैसे हो, लड़-झगड़कर, युद्ध द्वारा, या किसी और तरह से हो, इस सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण पश्चिमी देशों से भिन्न रहा है। भारत के विचारकों का पहले भी यह कहना था और अब भी यही कहना है कि हिंसा हिंसा को जन्म देती है, लड़ने-झगड़ने और युद्ध करने से यह सिलसिला आगे-ही-आगे बढ़ता जाता है। हम अपने प्रतिदिन के व्यवहार में देखते हैं कि क्रोध का सामना शान्ति से किया जाए, तो क्रोध आगे नहीं बढ़ता, लेकिन अशान्ति से किया जाए, तो वह आगे बढ़ता चला जाता

है। जीवन के छोटे-से क्षेत्र के इसी नियम को महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घटाने का प्रयत्न किया था। आज भी हमारे राष्ट्र के कर्णधार जवाहरलाल जी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की समस्याओं को इसी नियम के आधार पर हल करना चाहते हैं। बाँडुंग कान्फरेंस में भी पंचशील.के सिद्धांत को इसी आधार पर अपनाया गया है। विश्व के वातावरण को अहिंसा-मय बनाने में आज हिंसा का भी सहयोग मिल रहा है। अहिंसा के नग्न-रूप ऐटम बम तथा हायड्रोजन बम हैं। इन आविष्कारों ने प्रमाणित कर दिया है कि हिंसा की पराकाष्ठा मानव के विनाश तथा उसकी सभ्यता-संस्कृति के सर्वनाश में ही हो सकती है, इसलिए आज विश्व के अन्य महान् विचारक भी विश्व की समस्याओं को हल करन के लिए हिंसा के अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग को खोजने में प्रयत्नशील हैं। अहिंसा अपने प्रचण्ड रूप में जागकर मानव को थर्रा रही है और हठात् उसे अहिंसा की गोद में धकेल रही है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज भारत की अगर कोई देन है, तो यही है कि हम आपसी समस्याओं को लड़-झगड़कर नहीं, युद्ध द्वारा नहीं, शान्ति द्वारा हल करें। अब विश्व के सामने यह समस्या तो रही नहीं कि कौन-सा देश किस प्रकार अपने साम्राज्य का विस्तार करे, यह समस्या तो तभी तक थी जब देशों में राजा-महाराजा राज करते थे, या जब संसार में साम्राज्यवाद का बोलबाला था। आज राजा-महाराजा समाप्त हो गए, साम्राज्यवाद भी अन्तिम साँस ले रहा है। जब समस्या ही विचार-धारा की रह गई है तब इसमें क्या संदेह है कि उसका हल भी विचार-विमर्श से ही हो सकता है। मुक्के को देखकर कोई अपना विचार नहीं बदल सकता, ज़्यादातर मुक्क को देखकर लोग मुक्का ही दिखाने लगते हैं विचार तो प्रेमपूर्वक

एक साथ बैठकर, समझाने-बुझाने, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को सुनने और समझने से ही वदला जा सकता है।

३. संघर्ष को हल करने में नारी की देन

तो यह स्पष्ट हो चुका है कि विश्व की समस्याएँ हिंसा से नहीं, अहिंसा से हल हो सकती हैं। अहिंसा का अर्थ है—सहानुभूति, सहिष्णुता, प्रेम, सेवा, त्याग। ये सब नारी के स्वाभाविक गुण हैं, और इसीलिए यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वर्तमान-युग की समस्याओं का हल पुरुष के गुणों द्वारा नहीं, नारी के गुणों द्वारा ही हो सकेगा। पुरुष तथा स्त्री में अगर कोई आधार-भूत भेद है तो यही कि जहाँ पुरुष की आभ्यन्तर-प्रेरणा हर समस्या का हल करते हुए हिंसा और लड़ाई-झगड़े की तरफ़ होती है, वहाँ स्त्री की आभ्यन्तर प्रेरणा सहनशीलता तथा समझौते की तरफ़ होती है। युगों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्त्री ने अपने जीवन को सदा आत्म-समर्पण तथा सेवा की प्रतिमा बनाया है। वह विचार की रक्षा की ख़ातिर दूसरे का नहीं, अपना बलिदान कर सकती है। भारत की नारी ने तो अपने जीवन को तिल-तिल जलने वाली एक चिता बनाया है। पिछले दिनों गोआ में जो सत्याग्रह हुआ था उसमें राष्ट्रीय-ध्वज की रक्षा के हेतु सुभद्राबाई ने अपनी छाती गोलियों की बौछार के सामने तान दी थी। स्त्री का जीवन जन्म से मरण पर्यन्त दूसरों के लिए होता है। आज इन्हीं गुणों की तो मानव-समाज को आवश्यकता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने एक बार कहा था कि आज के विश्व को अपनी समस्याओं का हल करने के लिए नारी के गुणों को ही अपनाना होगा। डॉ० राधाकृष्णन् का यह कहना अक्षरशः सत्य है। जिस देश के

राजनीतिक जीवन में स्त्रियों का अधिकाधिक समावेश होगा उस देश की राजनीति एक भिन्न दिशा की ओर चल पड़ेगी, उस देश में लड़ाई-झगड़ों को स्थान नहीं रहेगा,] वह देश अपनी समस्याओं को एक दूसरे ही प्रकार से हल करने लगेगा। विश्व की मनोवृत्ति में आज जो रूखापन, कटुता, प्रतिहिंसा, एक-दूसरे की बात को सहन न करने और अपनी ही चलाते जाने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, उसका हल तभी हो सकता है जब स्त्री के गुणों का विश्व के रंग-मंच पर अधिकाधिक समावेश हो। आज सब देश इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि राजनीति के क्षेत्र में स्त्रियों का प्रवेश देशों की अनेक समस्याओं को हल कर सकता है।

४. नारी का उत्तरदायित्व

हमने देखा कि विश्व की समस्याओं का हल आज जिन गुणों के द्वारा किया जा सकता है वे नारी के विशिष्ट गुण हैं। इन्हीं गुणों के विकास पर अहिंसा की परिपूर्णता निर्भर है। हमने यह भी देखा कि मानव का भविष्य—विश्व की रक्षा का प्रश्न—कितनी घनिष्ठता से अहिंसा के साथ जुड़ा हुआ है। अतः आज की परिस्थिति में स्त्री पर एक महान् उत्तर-दायित्व आ जाता है। स्त्री के इन गुणों को अब तक मानव-समाज में गुण तो क्या, अवगुण समझा जाता रहा है। पुरुष ही नारी को हीन नहीं समझता रहा, नारी भी इन्हीं गुणों के कारण अपने को पुरुष से हीन समझती रही है। आज विश्व के दृष्टिकोण ने पलटा खाया है। एक नई भावना, एक नवीन चेतना उत्पन्न होती जा रही है। जिन गुणों के कारण स्त्री को अब तक 'अबला' कहा जाता था आज वे ही विश्व की राजनीति का आधार बन रहे हैं। अगर स्त्री-जाति के इन गुणों के कारण ही

विश्व की समस्याओं का हल हो सकता है, विश्व को एक नवीन शक्ति प्राप्त हो सकती है, तो स्त्री की ज़िम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि इन गुणों को अवगुण मानने का भी कारण है। सहिष्णुता, त्याग आदि गुणों का आधारभूत कारण आत्मिक-बल भी हो सकता है, आत्म-हीनता भी। दूसरों की सेवा के लिए भी हम अपने को मिटा सकते हैं; अपनी कमज़ोरी के कारण भी हम अपनेको दूसरे के सामने झुका सकते हैं। आज नारी को 'अबला' होकर नहीं, 'सबला' होकर अपने स्वाभाविक गुण मानव-समाज को देने हैं। हिंसा के स्थान में अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग अपनी निर्बलता के कारण नहीं, अपने आत्मिक बल के कारण ही किया जा सकता है, वह बल न हो तो अहिंसा का प्रयोग किया ही नहीं जा सकता। इस दृष्टिकोण को जीवन में भर देने का काम नारी का है। वह सदियों से इन गुणों का प्रयोग करती आई है। आज उसके सम्मुख इन गुणों पर लज्जित होने का नहीं, इन पर गर्व करने का और इस दृष्टि से उन गुणों के विकास करने का अवसर है। विश्व को देखना है कि इन गुणों का प्रयोग आत्म-हीनता के कारण होता है, या आत्मिक बल के कारण। जिस अंश तक नारी इन गुणों का प्रयोग आत्मिक-बल के कारण करने में समर्थ होगी, उसी अंश तक वह अपनी ज़िम्मेदारी पूरी कर सकेगी और उसी अंश तक नारी का सन्देश आज के विश्व का मार्ग-प्रदर्शन कर सकेगा।

३

'नारी'—अहिंसक-युद्ध की योग्यतम सैनिक !

वैसे तो पिछले १०० वर्षों में जितने भी सुधारक हुए हैं, सब की दृष्टि स्त्रियों की हीनावस्था पर पड़ी, सबने उनकी दुर्दशा पर आँसू बहाए और उन्हें उठाने का प्रयत्न किया, किन्तु जितना क्रांतिकारी परिवर्तन महात्मा गान्धी ने स्त्रियों की अवस्था में इतने अल्प समय में किया, उतना पहले कभी न हो सका।

गांधीजी का असहयोग-आन्दोलन भारत की मृत-प्राय स्त्री-जाति के लिए संजीवनी बनकर आया। इससे पूर्व भारतीय स्त्री घर की चहारदीवारी के अन्दर बन्द थी। उसका घर ही उसकी दुनियाँ थी, वही उसका कार्य-क्षेत्र था। घर से बाहर क्या हो रहा है, इसका उसे पता तक न था। देश-प्रेम, स्वराज्य आदि शब्द उसके लिए अर्थहीन शब्दाडंबर थे। उसकी त्याग-तपस्या—सब-कुछ उसके छोटे-से घेरे के अन्दर सीमित थे। घर के अन्दर उसकी स्थिति एक रसोइये या बच्चों को पालने वाली आया से बढ़कर न थी। स्त्री अपनी स्थिति से स्वयं अनभिज्ञ थी, मानो वह एक गहरी निद्रा में सोई पड़ी हो। १९१९–२० का असहयोग-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, और एक झटके से, सोई हुई स्त्री को जगाकर बैठा गया। इससे भी ज़ोर का झटका १९३०–३१ के आन्दोलन के रूप में आया। इस आन्दोलन में स्त्री परदा चीर कर बाहर आ खड़ी हुई। उसने कपड़े की दूकानों पर पिकेटिंग किया; शराबखानों पर धरना दिया; बड़े-

बड़े जुलूसों की नायिका बनी; बड़ी-बड़ी सभाओं की अधिनायकता की; घर की ममता और बच्चों का मोह छोड़कर घर की परिधि को लाँघकर वह प्रसन्नता से देश की आजादी की ख़ातिर जेल के सीकचों के अन्दर घुसती देखी गई; उसने पुलिस की लाठियों के प्रहार सहे; जेल के कठोर-जीवन की यातनाएँ सहीं; जेल के अन्दर जाकर बान बटे। उसने यह सब-कुछ किया—अपने लिए नहीं, अपने बच्चों के लिए नहीं, देश की स्वतन्त्रता के लिए, भारत माँ की परतंत्रता की श्रृंखलाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिए!

स्त्री-जाति के दृष्टिकोण में, जो कुछ-दिनों-पूर्व पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी पड़ी थी, इतना बड़ा परिवर्तन आ जाना—क्या यह चमत्कार नहीं था! स्त्री-जाति के इस आश्चर्यमय कायाकल्प का रहस्य क्या है? क्या महात्मा गांधी का व्यक्तित्व इसका कारण था, या उनकी ओजस्वी भाषण देने की योग्यता? स्त्रियों की इस अपूर्व जागृति का रहस्य महात्मा गांधी का व्यक्तित्व या उनकी भाषण-पटुता नहीं थी। इस जागृति का कारण वह कार्य-क्रम था जो उन्होंने देश के सम्मुख स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए रखा था। हमारा स्वतन्त्रता-संग्राम सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह का संग्राम था। अहिंसा के अर्थ हैं—असीम और अतुलनीय प्रेम, और इस प्रकार का प्रेम वहीं सम्भव है जहाँ महान् त्याग की अद्‌भुत शक्ति मौजूद हो। स्त्री त्याग की प्रतिमा है, उसमें सहिष्णुता की चरम सीमा है। अतः जिस युद्ध का मुख्य शस्त्र अहिंसा हो, उस युद्ध का स्त्री से योग्यतर सैनिक कौन हो सकता था? स्वतन्त्रता के संग्राम में स्त्री यदि अपनी पूरी शक्ति का उपयोग करे, तो वह अपनी वीरता से संसार को चकित कर सकती है। इस गुर को गांधीजी ने अपनी व्यावहारिक-दृष्टि

से देख लिया था। महात्मा गांधी स्त्री के अन्दर छिपी अतुलनीय शक्ति को पहचानते थे। इसीलिए उनकी अपील ने स्त्री के मर्म-स्थल को छुआ, उसने स्त्री के भीतर छिपी हुई प्रसुप्त चेतना-शक्ति को जागृत कर दिया।

सदियों की पुरुष की दासता के कारण स्त्री के अन्दर अपने-आपको दीन-हीन समझने की भावना पैदा हो गई थी, जो उसे ऊँचा उठने ही नहीं देती थी। स्त्री स्त्री है, कमज़ोर है, अबला है, पुरुष के आश्रय के बिना वह संसार में नहीं रह सकती—यह "स्त्रीत्व" की भावना हर क्षण उसके ऊपर हावी रहती थी, और उसकी उन्नति के पथ में बाधक थी। स्त्री की यह मनोवृत्ति उसकी गिरावट का मुख्य कारण है—इस बात को गांधीजी ने समझा था और कहा था कि इस हीनता की मनोवृत्ति को दूर करने में ही स्त्री-समस्या का हल छिपा हुआ है। गाँधीजी का कथन था कि पुरुष पाशविक-बल में भले ही स्त्री से अधिक बलवान् हो, किन्तु आत्मिक-बल में तो स्त्री ही पुरुष की अपेक्षा अधिक शक्तिशालिनी है। महात्मा गांधी ने इस बात को अच्छी तरह पहचान लिया था कि जहाँ एक बार स्त्री ने अपने हीन होने की भावना को परे फेंक दिया, वहीं उसके पाँव दृढ़ भूमि पर जम जाएँगे और वह अविचल होकर कार्य-क्षेत्र में डट जाएगी। 'हीनता की भावना' के निकलते ही स्त्री अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लेगी। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता-संग्राम में स्त्रियों के लिए बड़ा विस्तृत क्षेत्र था। उन्हें अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने का एक अपूर्व अवसर मिल गया। गाँधी जी की विशेषता इसी में थी कि उन्होंने स्त्री को एक ऐसा कार्यक्रम दिया जिससे वह अपना विकास कर सकी और साथ ही मानवता के विकास में पुरुष से भी अधिक महत्वपूर्ण भाग ले सकी।

एक बार किसी स्त्री ने महात्मा जी से पत्र लिखकर पूछा कि जिस प्रकार आपने पुरुष को उसकी पाशविक वृत्तियों पर विजय पाने के लिए अहिंसा का शस्त्र दिया है, उसी प्रकार आप स्त्री को भी कोई उपाय बताइए जिससे वह अपने स्वभाव की दुर्बलताओं को दूर कर सके। "स्त्रीत्व" की भावना उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। उसका उत्तर देते हुए गाँधीजी ने लिखा कि अहिंसा और सत्याग्रह केवल पुरुष की दुर्बलताओं को ही दूर नहीं करते, वे स्त्री की दुर्बलता का भी उतना ही अच्छा प्रतिकार हैं। यदि इस अहिंसा के युद्ध में स्त्री भाग लेगी तो निस्संदेह नेतृत्व उसके हाथ में आएगा क्योंकि अहिंसा के क्षेत्र में नेतृत्व करने की सम्भावना पुरुष की अपेक्षा स्त्री में अधिक मात्रा में विद्यमान है। महात्मा गांधी ने उस स्त्री को लिखा कि यदि अहिंसा और सत्याग्रह का भविष्य उज्ज्वल और महान् है तो निस्संदेह स्त्री का भी भविष्य उज्ज्वल और महान् है।

आधुनिक नारी यद्यपि तरक्की करना चाहती है, वह हर प्रकार से पुरुष की बराबरी करना चाहती है, तथापि वेष-भूषा बदल लेने या घर का काम-काज छोड़ देने से ही वह पुरुषके समान नहीं हो सकती। यदि स्त्री को पुरुषों के साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर काम करना है, तो उसे अपने अन्दर छिपी हीनतापूर्ण स्त्रीत्व की भावना को निकाल देना होगा। उसको यह विचार छोड़ देना होगा कि वह पुरुष के उपभोग की वस्तु है और उसे पुरुष को प्रसन्न करने का ही प्रयत्न करना है। स्त्री को पुरुष ने सदा अपने मनोविनोद की वस्तु समझा है। स्त्री ने भी सदा पुरुष को प्रसन्न करना अपना प्रथम कर्तव्य माना है। उसने पुरुष को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए शारीरिक-सौन्दर्य को बढ़ाना अपना लक्ष्य रखा, वह अपने को तरह-तरह के वस्त्रा-

भूषणों से सजाती रही। आज भी आधुनिक नारी, यद्यपि वह पुरुष की बराबरी का दावा रखती है, अपनी इस कमज़ोरी की ग़ुलाम बनी हुई है। वह हर क्षण यही चहती है कि वह पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। इसीलिए तो वह अपने सौन्दर्य को कृत्रिम उपायों से बढ़ाने की चिन्ता में लगी रहती है। यह स्त्री की निर्बलता है। उसका जीवन पुरुष को प्रसन्न करने या पुरुष को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नहीं है। यदि स्त्री को पुरुष के साथ रहकर काम करना है, यदि स्त्री को समाज की दृष्टि में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करनी है, तो उसे शारीरिक सौन्दर्य नहीं, आत्मिक सौन्दर्य का विकास करना होगा। मन तथा आत्मा के इसी विकास को क्रियात्मक रूप देने के लिए महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह-संग्राम को पुरुषों का संग्राम ही न रखकर, स्त्रियों का संग्राम भी बना दिया था, जिसका परिणाम है कि मोटा खद्दर ओढ़नेवाली, देश की आज़ादी के मार्ग पर नंगे पाँव चलने वाली, "वन्देमातरम्" के गीत में घर-गहस्थी भूली हुई, केसरिया बाना पहनने वाली स्वतन्त्रता के पथ की पथिक स्वयंसेविकाओं के मुख पर जो सौन्दर्य झलका करता था, वह लाखों श्रृंगार करने से भी प्राप्त नहीं हो सकता।

स्वतन्त्रता-संग्राम से जब स्त्री निकली, तो उसने अपने को समाज के भीतर एक बदली हुई स्थिति में पाया। तीस वर्ष के स्वतन्त्रता के निरन्तर रण-प्रांगण में स्त्री ने सत्याग्रह-युद्ध के सैनिक के रूप में उच्च कोटि की देशभक्ति का, त्याग और तपस्या का परिचय दिया था। उसकी इस कुशलता तथा वीरता ने भारतीय-समाज के स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया। समाज की दृष्टि में स्त्री ऊँची उठ गई। स्वतन्त्रता के पश्चात् स्त्री-शिक्षा की प्रगति पहले से कई गुना बढ़

गई, स्त्री की समाज में पहले से अधिक प्रतिष्ठा होने लगी, स्वतन्त्र-भारत के संविधान में उसे विशेष स्थान प्राप्त हो गया, और आज वह विधान-सभाओं में, लोकसभा तथा राज्य-परिषद् में बैठकर देश की समस्याओं को हल करने में अपना सहयोग दे रही है—यह सब-कुछ युग-प्रवर्तक महात्मा गांधी से स्त्री को वरदान के रूप में मिला है, परन्तु उसको यह वरदान इसीलिये मिला है क्योंकि वह अपने स्वाभाविक गुणों के कारण अहिंसक युद्ध की योग्यतम सैनिक सिद्ध हुई है। आज जब भारतीय नारी के भाग्य ने पलटा खाया है तो उसका कर्त्तव्य है कि वह उन्हीं गुणों को अपना लक्ष्य बनाये जिनके कारण उसे अपने इतिहास को पलट कर लिखने का अवसर हाथ आया है।

४

विवाह का प्राचीन भारतीय-आदर्श

१. मनुष्य-जीवन का महत्व

भारत के ग्रामीण लोगों की मजलिस में बैठकर वहाँ की चर्चाओं को सुना जाय, तो उनमें कई रहस्यमय गुर सुनाई पड़ते हैं। वे लोग अक्सर कहा करते हैं कि मनुष्य-जीवन ८४ लाख योनियों के बाद मिलता है। एक अंधे का दृष्टान्त दिया जाता है, जो ८४ लाख दरवाज़ों वाले मकान के भीतर उसकी दीवार के साथ-साथ रास्ता टटोल रहा है, इनमें से केवल एक कोठरी का दरवाज़ा खुला है, जिसमें से बाहर निकला जा सकता है, वाक़ी सब दरवाज़े बंद हैं, परन्तु .ब वह अंधा हाथ से टटोलता-टटोलता खुले दरवाज़े के समीप पहुँचता है, तो उसे खुजली उठती है, और वह आगे निकल जाता है, और फिर ८४ लाख दरवाज़ों को खटखटाने के फेर में पड़ जाता है। जिन लोगों ने हमारे समाज में ऐसे कथानकों को एक-एक झोपड़े तक पहुँचाया था, मालूम नहीं, उन्होंने ८४ लाख योनियों की गिनती की थी, या यों ही इस संख्या को निश्चित कर दिया था, परन्तु इससे इतना अवश्य प्रतीत होता है कि वे लोग जीवन को एक खिलवाड़ नहीं समझते थे, इसे एक समस्या समझते थे, और ख़ास कर मनुष्य-जीवन को तो बड़ी विषम समस्या समझते थे। उनका कहना था कि मनुष्य की योनि

बड़ी दुर्लभ है, इसे पाकर उसके साथ खिलवाड़ करना मूर्खता की पराकाष्ठा है।

मनुष्य-जीवन को इतना दुर्लभ माननेवालों की दृष्टि उन लोगों की दृष्टि से अत्यंत भिन्न होगी, जो जीवन को एक आकस्मिक घटना-मात्र समझते हैं, इसे पाँच तत्त्वों के पुतले के सिवा और कुछ नहीं समझते। मनुष्य-जीवन यदि भिन्न-भिन्न जन्म-जन्मान्तरों की श्रृंखला में केवल एक कड़ी है, और यदि इस कड़ी की मज़बूती पर सारी ज़ंजीर का मज़बूत होना निर्भर है, तो इस जीवन के प्राप्त होते ही एक-एक क्षण अमूल्य हो जाता है। इसमें खोए हुए एक भी पल का परिणाम फिर से ८४ लाख योनियों में भटकना हो सकता है। परंतु इसके विपरीत, यदि यह जीवन एक आकस्मिक घटना है, तो इसका मूल्य एक अद्भुत खिलौने से अधिक नहीं रहता। एक गुड़िया को देखकर हम ख़ुश होते हैं, और ऐसे लोगों की नज़रों में मनुष्य का शरीर एक चलने, फिरने, बोलने वाली ५–६ फ़ीट की गुड़िया है, और कुछ नहीं। इसीलिए जीवन पर उथला विचार करने वाला, उसे आकस्मिक घटना-मात्र समझने वाला व्यक्ति दुःख में पड़कर आत्मघात कर लेना अनुचित नहीं समझता। योरप में ख़ुदकशी की तादाद दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, परन्तु ८४ लाख योनियों के फेर में पड़ने से डरने वाला भारतवासी भूख से तड़पता हुआ, सर्दी से व्याकुल होता हुआ और बीमारी से छटपटाता हुआ भी आत्मघात करने की नहीं सोच सकता। नहीं तो इस देश की तो ऐसी अवस्था है कि ३५ करोड़ में से ३० करोड़ कभी के आत्मघात कर चुके होते। "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः" (यजु० ४०।३)—आत्मघात

कर इस जन्म के दुःख से बचने का प्रयत्न करने वाला अगले जन्म में इससे भी भयंकर दुःख भोगता है, यह प्राचीन ऋषियों का मन्तव्य है।

उक्त कथन का अभिप्राय केवल इतना है कि प्राचीन-काल के ऋषि मनुष्य-जीवन को एक विशाल समस्या समझते थे, और उसके हल करने में उन्होंने अपने ऊँचे-से-ऊँचे विचारक लगा दिए थे। मनुष्य-जीवन की समस्या का उन्होंने जो हल किया था, उसी को आधार बनाकर यहाँ के समाज की रचना की गई थी। उन्होंने जीवन को सफल बनाने के लिए जीवन का एक आदर्श निर्धारित किया था, जिसके अनुसार इस देश में उत्पन्न हुआ प्रत्येक व्यक्ति आचरण करता था।

२. वह आदर्श क्या था ?

यदि जीवन सचमुच एक समस्या है, अचानक या आकस्मिक घटना नहीं, तो इस समस्या का हल अवश्य होना चाहिए, इसे एक खिलवाड़ की चीज़ नहीं समझना चाहिए। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इस समस्या का हल जीवन को एक निश्चित आदर्श में बाँधकर किया था। वह आदर्श क्या था ? यजुर्वेद (४०।६) में कहा है—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति"—जो व्यक्ति सब आत्माओं को अपने अन्दर देखता है, और अपने को सब में देखता है, वह संदेहों से ऊपर उठ जाता है, निश्चयात्मक जीवन व्यतीत करता है। अपने को अपने अन्दर देखने वाले तो सब हैं, परन्तु दूसरे में अपनापन अनुभव करना जीवन का एक विलक्षण, विरला, भारतीय आदर्श है। मनुष्य की अंतरात्मा का विकास इसी को कहते हैं। आज हमारे शहरों की गलियों में सैकड़ों

भूखे, नंगे कराहते फिरते हैं, परन्तु क्या उनके दुःख को देखकर किसी के हृदय में कराहना उठती है, क्या कोई उनकी तड़पन को अनुभव करता है, क्या कोई यह अनुभव करता है कि वे भी उसी मानव-समाज के अंग हैं, जिसके हम अपने को अंग समझते हैं? यदि सचमुच किसी के हृदय में ये भाव उठते हैं, तो उसकी आत्मा विकसित है, वह अपने आदर्श की तरफ़ जा रहा है, नहीं तो धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी हम उस पत्थर के समान हैं, जिस पर हज़ारों प्राणियों का प्रतिदिन वध होता है, परंतु आत्मा न होने के कारण उसका एक आँसू भी नहीं निकलता! सुक़रात की आत्मा विकसित थी, क्योंकि वह अपने को ज़हर देनेवालों पर रहम की नज़र फेंक सकता था। मसीह की आत्मा ऊँची थी, क्योंकि वह अपने समय के दीन-दुखियों के चीत्कारों को अपने हृदय में गूँजते हुए सुनता था, और उन्हीं की तरह व्याकुल हो जाता था। गाँधी की आत्मा उच्च-कोटि की थी क्योंकि वह दूसरों में अपनेपन को भूल सकता था। जो आत्मा प्राणी-मात्र के हृदय के स्पंदन को अपने भीतर अनुभव कर सकती है, वह बड़ी है, महान् है, विकसित है, और वह जीवन के भारतीय उच्च आदर्श तक पहुँच चुकी है, क्योंकि यजुर्वेद (३६।१८) की घोषणा है—"मित्रस्य त्वा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्"; "यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" यजु० (४०।७)। इसी भाव की गूंज हज़रत मसीह के शब्दों में पायी जाती है जब उन्होंने कहा था—"Come unto me, all ye that labour and are heavy laden, and I will give you rest." जीवन का आदर्श दूसरे के बोझ को अपने हाथों से अपने कंधों पर लेना है, दूसरे के आँसुओं को अपने आँसुओं में बहा देना

है, दूसरे के घाव को अपने हृदय के मरहम से चंगा करना है। जीवन को खिलवाड़ समझने वाला व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, परंतु मनुष्य जीवन को एक अमूल्य देन समझने वाला व्यक्ति ऐसा किये बग़ैर रह नहीं सकता। इसी में आत्मा की उन्नति है, आत्मा का विकास है, और इसी में आत्मा अपने लक्ष्य को, अपने आदर्श को पाती है।

३. आदर्श की क्रियात्मकता

प्रश्न हो सकता है कि इस आदर्श को जीवन में क्रियात्मक रूप देने के लिए भारतीय ऋषियों ने क्या उपाय सोचा था? इसका उत्तर ऋग्वेद (९।१०।१) में इस प्रकार दिया है—"चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत।" सोम चारों भुवनों या आश्रमों को 'अन्या निर्णिजे'—'और-ही-कुछ बना देता है'—उनमें जान डाल देता है। अथर्व (१४।१।६०) में इसी प्रश्न का उत्तर यों दिया है—"भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भग-स्ततक्ष चत्वार्यायुष्पलानि।"—'हर वस्तु को भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त करने वाले ने जीवन को आयु के चार भागों में विभक्त कर दिया है'। शतपथ (१४ का०) में उन चार भागों का विस्तार करते हुए कहा है—"ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।"—'मनुष्य-जीवन के आदर्श को क्रियात्मक बनाने का तरीक़ा यह है कि पहले ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करे, ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ, बाद को वानप्रस्थ और फिर संन्यास-आश्रम में प्रवेश करे'। आत्मा के अपने आदर्श तक पहुँचने का, उसके पूर्ण रूप से विकसित होने का यही उपाय है। ब्रह्मचर्यावस्था 'स्व' से प्रारम्भ होती है। यह 'स्व' या अपनी आत्मा ही तो आगामी आने वाले विकास का

आधार है, इसलिए ऋषियों ने इस 'स्व' की आधार-शिला को दृढ़ बनाने के लिए ब्रह्मचर्य का विधान किया है। इस आश्रम में 'स्व' के या 'अपने' सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। ब्रह्मचारी अपने इर्द-गिर्द घूमता है, वह अपने शरीर की, अपने मन की और अपनी आत्मा की उन्नति करता है, अपने से बाहर उसे देखने को नहीं कहा गया। परन्तु जब वह अपने 'स्व' को दृढ़ बना चुका, तब उसे अपनी आत्मा को अधिक विकसित करने को कहा जाता है, और वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्यावस्था में मनुष्य की दृष्टि केवल अपने तक सीमित थी, परन्तु गृहस्थावस्था में वह अपने 'स्व' के अंदर दूसरों को शामिल करने का पाठ सीखता है। वेद का कथन है—"इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।" (ऋक् १०।८५।४५)—'एक समृद्ध देश में स्वस्थ माता-पिता का दस संतानों का परिवार होना चाहिए।' ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य की दृष्टि अपने ही ऊपर रहती है, परन्तु गृहस्थ आश्रम में माता-पिता अपनी दृष्टि को अपने ऊपर से उठाकर कम-से-कम अपनी संतानों तक तो विस्तृत कर ही देते हैं। वे ख़ुद भूखे रह सकते हैं, परन्तु अपनी संतानों को भूखा नहीं देख सकते; ख़ुद काँटों से लहूलुहान हो सकते हैं, परन्तु अपने बच्चे की उँगली में एक कांटा भी चुभता हुआ नहीं देख सकते। त्याग के जीवन की पराकाष्ठा गृहस्थ में है, परन्तु जीवन का भारतीय-आदर्श गृहस्थ तक रुक नहीं जाता। गृहस्थ तो आत्मा के 'सर्वभूतहिते रतः' के क्रमिक-विकास में एक सीढ़ी-मात्र है, एक मंज़िल है, एक स्टेज है। जीवन का असली उद्देश्य तो आत्मा का ऐसा विकास है, जिसमें वह अपने को ही नहीं, अपनी पत्नी को ही नहीं, अपने बाल-बच्चों को ही नहीं, परन्तु प्राणी-

मात्र को अपना समझने लगता है, विश्वात्मा में अपनी आत्मा को ओत-प्रोत कर देता है, घुला-मिला देता है, 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' का अनुभव करने लगता है, दूसरों की आत्मा में अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष करता ह। ऐसे विकास का, ऐसे उदय का, सीमित, छोटा रूप गृहस्थाश्रम में दिखाई देता है जहाँ प्राचीन-वैदिक आदर्श के अनुसार दस पुत्रों तथा दो स्वयं--इस प्रकार बारह व्यक्तियों के कुटम्ब में माता-पिता अपनी आत्मा बारह तक फैला देते हैं। परन्तु यहीं पर रुक जाना, यहीं पर ठहर जाना और आगे क़दम न रखना भारतीय-आदर्श के विपरीत है। तभी गृहस्थ को एक 'आश्रम' कहा गया है। आश्रम का अर्थ है--एक मंज़िल, एक स्टेज। गृहस्थाश्रम आत्मिक-जीवन के विकास में एक सीढ़ी है, एक मंज़िल है, और यात्री को अभी इससे बहुत आगे चलना है। अभी तो माता-पिता तथा दस सन्तानों में--कुल १२ प्राणियों के परिवार में--'स्व' की, एकता की, ममता की, अहंत्व की अनुभूति हुई है, इस छोटे-से समूह में 'एकत्वमनुपश्यतः' की भावना का उदय हुआ है, परंतु जीवन का उद्देश्य प्राणीमात्र में एकता के सूत्र का पिरो देना है। तभी तो भारतीय-आदर्श के अनुसार--"गृही भूत्वा वनी भवेत्" --गृहस्थाश्रम में आत्मा का जितना विकास हो सकता है, उतना करके वानप्रस्थी हो जाय--यह कहा है। आज हम पैदा होते ही गृहस्थाश्रम की सोचने लगते हैं, और जब तक चार कंधों पर चढ़कर 'राम-नाम सत्य है' की गूँज में श्मशान नहीं पहुँच जाते, तब तक गृहस्थाश्रम के ही कीड़े बने रहते हैं। इससे ज़्यादा गृहस्थाश्रम की दुर्गति क्या हो सकती है? प्राचीन-आदर्श के अनुसार गृहस्थाश्रम तो आत्मा के विकास के लिए एक ख़ास हद तक, एक ख़ास सीमा तक आवश्यक है। उसके बाद गृहस्था-

श्रम में फँसे रहना आत्मा का सर्वनाश करना है। वानप्रस्थी गृहस्थाश्रम से गुज़र चुका है, उसने दूसरों को अपना समझने का पाठ २५ साल तक सीखा है, अब वह अपने बच्चों की तरह दूसरों के बच्चों को भी अपना समझने लगता है। वह जङ्गल में बैठ जाता है। उसके पास गाँव के, शहर के बालक पढ़ने को आते हैं। वह सबको अपना समझकर पढ़ाता है, और सब में अपनी आत्मा को देखता है, सबमें अपनापन अनुभव करता है। इस अभ्यास के बाद संन्यास-आश्रम है। संन्यास में वह सबको, प्राणी-मात्र को, अपना समझने लगता है। उसका लगाव सबसे एक-समान हो जाता है। जीवन का सर्वोत्तम आदर्श यही है। इसे प्राचीन आर्य आश्रम-व्यवस्था कहा करते थे। ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास तक पहुँचते-पहुँचते जहाँ पहले उसकी दृष्टि अपने तक सीमित थी, वहाँ वह अपने से हटकर दूसरों तक फैलती जाती है। यहाँ तक कि चारों आश्रमों में से गुज़र-कर ख़ुदी मिट जाती है, और ख़ुदी ही बाक़ी रह जाती है। फ़र्क़ इतना है कि पहले ख़ुदी ख़ुद तक महदूद थी, और अब ख़ुदी ख़ुदा तक पहुँच जाती है। शायद इसी ऊँचे अनुभव को किसी मस्ताने ने 'अहं ब्रह्मास्मि' के उद्गार से प्रकट किया था।

४. गृहस्थाश्रम का भारतीय-आदर्श 'ब्रह्मचर्य' था

हमने विवाह के भारतीय-आदर्श पर कुछ लिखने से पहले 'जीवन के प्राचीन-आदर्श' पर शायद कुछ ज़रूरत से ज़्यादा लिख दिया है, परन्तु गृहस्थी का आदर्श तो जीवन ही के आदर्श की पूर्ति में एक साधन-मात्र है, गृहस्थी का आदर्श जीवन के आदर्श का ही केवल एक-चौथाई हिस्सा है, इसलिए यह स्पष्ट है कि हमारे सम्मुख जीवन का आदर्श जितना स्पष्ट होगा, गृहस्थी

का आदर्श उसी मात्रा में स्वयं स्पष्ट हो जायगा, इसलिए 'विवाह के आदर्श' पर विचार करते हुए हमने 'जीवन के आदर्श' पर इतना विचार किया है।

गृहस्थाश्रम में अपनेपन का केंद्र अपने से हिलकर दूसरों में जाना प्रारंभ करता है, स्वार्थ का अंश पर्दे की ओट में होने लगता है, और उसकी जगह परार्थ का भाव सामने आने लगता है, अतः यह बड़ी ज़िम्मेदारी का आश्रम है। जिसने पहले अपने केंद्र को अपने अंदर नहीं पहचाना, उसे अपने अंदर दृढ़ नहीं बनाया, अपनी ही उन्नति नहीं की, वह दूसरों का क्या ख़याल कर सकता है। इसलिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पहले, 'परार्थ' को 'स्वार्थ' बनाने से पहले, ऋषियों ने ब्रह्म-चर्याश्रम का विधान किया है। इस आश्रम में अपनी पूर्ण रूप से उन्नति करना अभीष्ट है। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर, मन तथा आत्मा की उन्नति कर ली है, वह उस उन्नति को दूसरों की उन्नति के लिए आधार बना सकता है। यही कारण है कि ऋषियों ने अब्रह्मचारी या अब्रह्मचारिणी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं दिया। मनु (३।२) ने कहा है—"अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्"—'जिसके ब्रह्मचर्य का भंग न हुआ हो, वही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे'। कन्या के विषय में भी अथर्व (११।५।१८) का वचन है—"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्"। जैसा हम पहले लिख आये हैं इसी भाव को (ऋक् १०।८५।४०) में यों कहा है—"सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः। सोमोददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्।" पहले कन्या 'सोम' के पास रहती है। सोम का अर्थ है—'वीरुधां पतिः'—'वनस्पतियों का राजा'।

अर्थात्, फल आदि के उत्तम आहार से कन्या का शरीर पुष्ट होता है। तदनंतर कन्या 'गंधर्व' को दे दी जाती है। गंधर्व का काम गाना-बजाना है। शरीर पुष्ट होने पर कन्या गाना-बजाना सीखती है, उसका मानसिक-विकास होता है। मानसिक विकास हो जाने के बाद वह 'अग्नि' के सुपुर्द होती है, उसके शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है। इसके बाद वह 'पुरुष' से विवाह दी जाती है। कैसा स्वाभाविक तथा स्पष्ट वर्णन है। यह हमारे प्राचीन ऋषियों का शारदा-ऐक्ट है। इस मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय है कि कन्या का विवाह पकी हुई आयु में होना चाहिए, उससे पूर्व नहीं। हमारे देश में जो कच्ची आयु में कन्याओं का विवाह होता रहा है, वह प्राचीन-आदर्श से सर्वथा विपरीत है। प्राचीन-भारतीय-आदर्श तो यह है कि जो गृहस्थ होना चाहे, वह पहले अपने ब्रह्मचारी होने का प्रमाण-पत्र पेश करे, और जो ऐसा प्रमाण-पत्र न दे सके, उसके साथ कोई पिता अपनी पुत्री का विवाह न करे। आज अख़बारों में इश्तिहार निकलते हैं—"लड़का चाहिए, जो २५०) महीना कमाता हो, विलायत से लौटा हो।" यदि वैदिक-काल में अख़बार होते, और उनमें भी इश्तिहार निकलते होते, तो उनमें लिखा होता—'एक ब्रह्मचारी चाहिए', और यदि उस समय भी विलायत ऐसा ही होता, जैसा आज है, तो इश्तिहार में साफ़ लिखा होता कि 'विलायत से लौटा हुआ नहीं होना चाहिए।' आज जो लड़का बिगड़ने लगता है, माता-पिता उसका जल्दी विवाह कर देते हैं। परन्तु प्राचीन-आदर्श के अनुसार जो लड़का बिगड़ने लगे, उसके विवाह की कोई आशा नहीं रहती, उसे विवाह का कोई अधिकार नहीं रहता। बिगड़े हुए इंसान को अपने-जैसी बिगड़ी हुई संतानें उत्पन्न करके समाज को गंदा करने

का कोई अधिकार नहीं है। जिस आदर्श के अनुसार अब्रह्मचारी चाहे २५ वर्ष का भी क्यों न हो, शादी भी नहीं कर सकता, उसके अनुसार लठिया टेककर चलने वाला बुड्ढा शादी कैसे कर सकता है? वैदिक आदर्श के अनुसार केवल ब्रह्मचारी विवाह का अधिकारी है, दूसरा नहीं।

५. विवाह में 'प्रेम'--स्वयंवर की प्रथा

विवाह पकी हुई आयु में होना चाहिए, ब्रह्मचारी का ही होना चाहिए, अब्रह्मचारी का नहीं होना चाहिए--यह हमने देख लिया। परन्तु विवाह कैसे हो? क्या विवाह के मामले में लड़के-लड़की की भी कुछ सुनी जानी चाहिए, या यह ऐसा मामूली काम है कि इसे एक अपढ़ नाई के भरोसे ही छोड़ा जा सकता है? वैदिक-साहित्य में इस विषय में दृढ़ तथा निश्चित सम्मति पायी जाती है। ऋग्वेद (७ अ०, ७ वर्ग, १७ मं०, १२ मंत्र) में लिखा है--"कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।"--"वधू की इच्छा करने वाले किस पुरुष की स्त्री प्रेम करने वाली होगी?"--इस प्रश्न को स्वयं उठाकर ऋग्वेद उत्तर देता है--(सुपेशाः) सुन्दर रूप वाली वह वधू अच्छी है जो (जने चित्) अनेक जनों में (मित्रं स्वयं वनुते) अपने मित्र को स्वयं चुनती है।" इस मंत्र में स्त्री के लिए अपने पति को स्वयं चुनने का विधान है, इसीको 'स्वयंवर' कहते हैं। आज हमारे समाज में लड़का अनेक लड़कियों में से एक लड़की को चुनता है, परन्तु प्राचीन भारतीय आदर्श ठीक इससे उल्टा है। चुनने का अधिकार लड़के को नहीं, लड़की को दिया गया है। इस प्रकरण में मुझे १५ जून १९३१ के 'लीडर' अखबार का एक इश्तिहार स्मरण हो आता है। इश्तिहार में लिखा था--

"**Wanted** :—An exceptionally fair complexioned (Matching Europeans) and good featured Bengali Brahman girl for marriage with a Bengali (Bachelor) doctor practising at Lucknow, besides having independent income from properties and employment. No dowries will be accepted. Caste will be no bar, but guardians of dark-complexioned girls need not write."

शायद इस इश्तिहार को पढ़कर लोग हँसें। हँसने की बात भी है। डॉक्टर साहब अपने विषय में तो इतना ही बतलाते हैं कि वे निखट्टू नहीं हैं, और अविवाहित हैं। परन्तु आजकल के युग में अविवाहित होने का अभिप्राय ब्रह्मचारी होना भी हो, यह बात नहीं है। अविवाहित व्यक्ति गृहस्थी से भी ज़्यादा गिरा हुआ हो सकता है। परन्तु हाँ, ये डॉक्टर महाशय यह ज़रूर चाहते हैं कि हिन्दुस्तान-भर के ऐसे माता-पिता जिनकी लड़कियों का रंग योरपियनों-जैसा हो, अपनी लड़कियों की दरख़्वास्तें लेकर इनका दरवाज़ा खटखटाएँ। इन डॉक्टर पर हमें हँसने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि ये महाशय तो इस युग में फैली हुई मनोवृत्ति के एक उदाहरण-मात्र हैं। आजकल के ज़्यादा-से-ज़्यादा सुधरे हुए आदर्श के अनुसार भी चुनने का अधिकार लड़के को ही प्राप्त है, और कहीं-कहीं स्वीकृति लड़की से भी ले ली जाती है। परन्तु प्राचीन-भारतीय-आदर्श के अनुसार चुनने का अधिकार लड़की को प्राप्त था, स्वीकृति लड़के की भी होती थी। तभी तो लड़की के घर बहुत-से विवाहेच्छु जाते थे, और उनमें से किसी एक के गले में वर-माल डाली जाती थी। दमयंती के स्वयंवर में दूर-दूर से राजकुमार आए

थे, सीता के स्वयंवर में भी रामचन्द्र राजा जनक के यहाँ अपनी परीक्षा देने पहुँचे थे, द्रौपदी का स्वयंवर भी ऐसा ही था। उसीका अवशेष आज भी बचा हुआ है। वर वधू के घर पर चलकर आता है, और वधू के घर पर ही विवाह-संस्कार होता है। यह प्रथा स्वयंवर-प्रथा का ही टूटा-फूटा रूप है परन्तु आज के स्वयंवर में लड़की नहीं चुनती, लड़का चुनता है। प्राचीन स्वयंवर-प्रथा की यह कैसी विडम्बना है !

प्राचीन-भारतीय-आदर्श में विवाह होने से पहले स्त्री के एक बड़े भारी अधिकार को माना गया है। स्त्री को अधिकार है कि वह किसे अपनी भावी संतान का पिता बनाए या किसे न बनाए। यह छोटा-मोटा अधिकार नहीं है। इस अधिकार को पाकर ही स्त्री पति की आज्ञाकारिणी हो सकती है, नहीं तो डंडे के ज़ोर पर तो आज्ञा चलती ही है। आज माता-पिता जिस लड़के से चाहते हैं, लड़की को बाँध देते हैं। क्या इस प्रकार बँधकर पति-पत्नी प्रेम के उस एकता के सूत्र का विस्तार कर सकते हैं, जिसके लिए गृहस्थाश्रम एक साधन-मात्र है ? गृहस्थाश्रम तो अपनी आत्मा को विकसित करने के लिए है, परार्थ को स्वार्थ बनाने के लिए है। परन्तु जहाँ प्रारंभ में ही ठीक चुनाव नहीं हुआ, वहाँ जीवन की धारा शान्ति से कैसे बह सकती है, उसका विकास कैसे हो सकता है ? इसलिए विवाह में चुनाव एक ज़रूरी चीज़ है। वेद के आदेश के अनुसार स्त्री अपने पति को चुनती है, वरती है। यह अधिकार पति को न देकर पत्नी को क्यों दिया गया है ? क्योंकि गृहस्थाश्रम का वास्तविक बोझ तो पत्नी पर ही है। संतानोत्पत्ति का महान् कष्ट पत्नी को उठाना पड़ता है, अपनी स्वतंत्र सत्ता को पति में खोकर एक घर का केंद्र बनकर पत्नी को बैठना है। खूँटे की तरह अविचल

रूप से एक जगह उसीको गड़ जाना है। जब उस पर इतनी ज़िम्मेदारी है, और उसके लिए उसको इतना त्याग करना है, तो चुनाव उस पर न छोड़ा जाय, तो किस पर ?

६. स्त्री-पुरुष का मैत्री-भाव

जब पति-पत्नी ने एक-दूसरे को स्वयं चुना है, तो उनका पारस्परिक संबंध मित्रता के संबंध के अतिरिक्त और कौन-सा हो सकता ह ? दोनों एक-दूसरे के सुख-दुःख के 'साथी' हैं। इसलिए मंत्र में 'मित्रं स्वयं वनुते' का प्रयोग हुआ है। अर्थात्, स्त्री अपने 'मित्र' को स्वयं चुनती है। आजकल कितने पुरुष हैं, जो अपनी स्त्री को 'मित्र' कह सकें। गृह्य सूत्र में लिखा है—"यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम, यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव।"—'जो तेरा हृदय है, वह मेरा हृदय हो जाय और जो मेरा हृदय है, वह तेरा हृदय हो जाय।' विवाह-संस्कार में 'सप्तपदी' के समय—'सखायै सप्तपदी भव'—यह पढ़ा जाता है, इसमें भी स्त्री को 'सखा' कहा गया है। जैसा प्रारंभ में कहा गया था—विवाह का उद्देश्य तो जीवन के आदर्श को पूर्ण करने के लिए एक साधन-मात्र है। जीवन का आदर्श संसार के सब प्राणियों में अपनापन अनुभव करना है, मित्रता अनुभव करना है। इसलिए विवाह में भी पति-पत्नी में मित्रता, सखि-भाव ज़रूरी है, नहीं तो विवाह का एक प्रधान उद्देश्य पूरा ही नहीं हो सकता।

संसार में ज्ञात से अज्ञात की तरफ़ जाने का प्रयत्न होता है। जो-कुछ हमारे पास है, जो-कुछ हमें प्राप्त है, उसी के आधार पर जो-कुछ हमारे पास नहीं है, हमें अप्राप्त है, उसे पाया जा सकता है। स्त्री-पुरुष में तो प्रेम स्वाभाविक है। उसके लिए

कोई स्कूल पढ़ने नहीं जाता, परन्तु प्राणी-मात्र के लिए प्रेम का पाठ तो सीखना ही पड़ता है, वह बैठे-बैठे नहीं आ जाता। स्त्री तथा पुरुष के इसी स्वाभाविक प्रेम को प्राणी-मात्र तक ले जाने का, एक कठिन काम को आसान बनाने का प्रयत्न गृहस्थाश्रम द्वारा किया जाता है। परन्तु यदि पति-पत्नी में प्रारंभ में ही सखि-भाव नहीं है, मैत्री नहीं है, नज़दीक़ी नहीं है, तो यह आशा करना कि गृहस्थाश्रम ऐसे दम्पती की आत्मा का विकास करेगा या उसमें प्राणी-मात्र के लिए प्रेम उत्पन्न करेगा, मूर्खता है। इसलिए विवाह के प्राचीन-भारतीय आदर्श में स्त्री-पुरुष का आपस में 'मैत्री-भाव' से खिंचे होना ज़रूरी है। इसी प्रेम का, इसी मैत्री-भाव का तो आगे विस्तार करना है। यह है ही नहीं, तो आगे विस्तार किस चीज़ का होगा ? हम तो समझते हैं कि भारतीय आदर्श की दृष्टि से वह विवाह विवाह ही नहीं, जिसमें स्त्री-पुरुष का आपस में मैत्री-भाव या सखि-भाव नहीं। विवाह में प्रेम ही तो एक तत्व है, जिसे संकुचित-क्षेत्र से निकाल कर हम विस्तृत-क्षेत्र में विकसित करना चाहते हैं। जिस क्षेत्र में यह बीज ही नहीं पड़ा, वहाँ संसार के प्रति मैत्री-भाव का अंकुर कैसे फूट सकता है ?

७. संतानोत्पत्ति

प्राचीन-भारतीय-आदर्श दो आत्माओं के परस्पर विवाह-बंधन में जकड़ जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। दो आत्माएँ अपने को एक सूत्र में इसलिए बाँधती हैं ताकि अन्य आत्माओं को भी इसी सूत्र में बाँध लिया जाय। इसीलिए विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श संतानोत्पत्ति है। वेद में जहाँ भी स्त्री और पुरुष का इकट्ठा वर्णन आता है, वहाँ संतान का ज़िक्र

अवश्य पाया जाता है। आजकल की सभ्यता के कई लोग तो बार-बार इस बात का वर्णन देखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। आजकल के लोग संतान-निग्रह का वर्णन बड़े चाव से पढ़ते हैं, संतानोत्पत्ति मानो उन्हें खाए-सी जाती है। विवाहित स्त्री तथा पुरुष एक-दूसरे में अपनी आत्मा को घुला-मिला देते हैं। वे—'यदस्ति हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम'—का पाठ सीख लेते हैं। पुरुष स्त्री को बचाकर सब कष्ट अपने ऊपर झेलना चाहता है, स्त्री पति को बचाकर जीवन के कष्टों को अपने ऊपर लेना चाहती है। जब उनके संतान हो जाती है, तब दोनों सब कष्टों को अपने ऊपर लेकर बच्चे पर किसी तरह की आँच नहीं आने देना चाहते। एक संतान के बाद दूसरी संतान होती है, दूसरी के बाद तीसरी, तीसरी के बाद चौथी। माता-पिता एक विचित्र पाठशाला में शिक्षा पाने लगते हैं। ऐसी पाठशाला में, जिसमें बच्चा कहीं जाग न जाय, इस-लिए माता रात-भर स्वयं जागकर उसे गोदी में लिए बैठी रहती है। बच्चे को कहीं सर्दी न लग जाय, इसलिए माता अपना सूखा बिछौना उसके नीचे करके स्वयं उसके पेशाब से गीले बिस्तर पर रात काट डालती है। वैदिक आदर्श के अनुसार आठ-दस बच्चों को इस प्रकार पालकर माता-पिता की आत्मा का ऐसा विकास हो सकता है, जिससे वे दुनियाँ-भर के बच्चों में अपने बच्चों की झलक देख सकते हैं, और अपनी आत्मा के तंतु को प्राणी-मात्र के मनको में पिरो सकते हैं। गृहस्थाश्रम इस ऊँचे आदर्श का पाठ पढ़ाने के लिए, उसका अनुभव कराने के लिए और इस अनुभव को माता-पिता की रग-रग में रचा देने के लिए एक पाठशाला है। तभी (ऋ १०।११७।६) कहा है—"केवलाघो भवति केवलादी"—'जो गृहस्थ दूसरे को खिलाकर

नहीं खाता, वह पाप खाता है'। वैदिक-आदर्श के अनुसार मनुष्य खाने का तभी अधिकारी है, जब ख़ुद खाने के पहिले दूसरे को खिला सके; जीने का तभी अधिकारी है, जब दूसरे के लिए अपने जीवन को खपा सके। यही पाठ गृहस्थ को अनुभव से सीखना है, दस-बारह की टोली में इस बात का अभ्यास करना है। आज तो यह पाठ पढ़ाया जाता है कि अपने जीवन के लिए दूसरे को हज़म कर जाओ, परन्तु गृहस्थ का वैदिक-आदर्श यह है कि दूसरे के जीवन के लिए अपनी जान देने की ज़रूरत पड़े, तो उसे उठाकर फेंक दो। गृहस्थ ने इसी आदर्श को सीखने के लिए विवाह किया है, इसलिए हिन्दू-समाज में संतान न होने को एक महान् कष्ट समझा जाता है। गृहस्थ का वैदिक-आदर्श संतानोत्पत्ति है, संतान-निग्रह नहीं। विवाह में सप्तपदी के समय कहा जाता है, "पुत्रान् विन्दावहै बहून्।" —"हम दोनों स्त्री-पुरुष बहुत-से पुत्र प्राप्त करें।" जिसके संतान नहीं, उसे मालूम नहीं कि दूसरे के लिए किस प्रकार जगा करते हैं, दूसरे के लिए किस प्रकार काँटों पर चला करते हैं, दूसरे के लिए किस प्रकार सूखे चने चबाकर और पानी पीकर गुज़ारा किया करते हैं। हाँ, जो व्यक्ति बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये यह सब-कुछ करने के लिए तैयार है, वैदिक-आदर्श के अनुसार उसके लिए विवाह का भी विधान नहीं है। उसके लिए तो ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"—जिस दिन उसमें ममता का भाव छूट जाय, सीमित-ममता के स्थान पर विशाल-ममता का भाव आ जाय, 'एकत्वमनुपश्यतः' का साक्षात्कार हो जाय, उसी दिन भगवा रँगवा ले। परंतु ऐसा सबके लिए संभव नहीं है। साधारण लोगों के लिए इस ऊँचे आदर्श को जीवन में सीखने का तरीक़ा गृहस्थाश्रम

में प्रवेश करना ही है। वैदिक-आदर्श के अनुसार विवाह तभी सफल कहा जा सकता है, जब उसका फल संतान हो। पत्नी का लक्ष्य माता बनना, और पति का लक्ष्य पिता बनना है। जो पत्नी माता नहीं बनी, और जो पति पिता नहीं बना, उसने गृहस्थी का पाठ ही नहीं सीखा।

८. संतान कैसी हो ?

भारतीय आदर्श संतानोत्पत्ति पर बल देता है, परन्तु संतान कैसी हो ? संतति-सुधार के विज्ञान का तो योरप में अब प्रचार होने लगा है, परन्तु भारतीय-विचार-परम्परा इस प्रकार के विचारों से भरी पड़ी है। जिनका यहाँ की विचार-धारा से साधारण-सा भी परिचय है, वे यह देखे बग़ैर तो रह नहीं सकते कि वैदिक-साहित्य में संतति-सुधार (Race-betterment) का विचार जगह-जगह भरा पड़ा है। भारतीय-आदर्श के अनुसार टूटी-फूटी संतान उत्पन्न करने की सख़्त मनाही है। वेद में स्त्री को 'वीरसू' कहा गया है, अर्थात्, वीरों को उत्पन्न करने वाली, कायरों और बुज़दिलों को नहीं; युद्ध में छाती पर वार लेने वाली संतान को पैदा करने वाली, पीठ पर नहीं। वेद का कोई मंत्र ऐसा नहीं, जिसमें संतान का ज़िक्र तो हो, और उसमें यह न लिखा हो कि वह सौ साल तक जीने वाली हो, हृष्ट-पुष्ट हो, उत्तम विचारोंवाली हो, माता-पिता से कहीं आगे बढ़ी हुई हो। एक जगह कहा है—

"तं माता दशमासान् बिभर्तु स जायतां वीरतमः स्वानाम्"

दश मास के बाद जो पुत्र हो, वह—'स्वानाम्'—अपने सब संबंधियों में से—'वीरतमः जायताम्'—वीरतम हो, अर्थात् सबसे अधिक वीर हो। संस्कृत से साधारण-सा परिचय रखने वाले व्यक्ति ने भी यह सूक्ति सुनी होगी—

"एकेनैव सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भया ;
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी।"

—शेरनी एक सुपुत्र से निडर होकर आराम से सोती है, और गधी दस पुत्र होने पर भी भार ही ढोती है।

संतानोत्पत्ति का आदर्श कुत्ते-बिल्लियों की तरह झोल-की-झोल पैदा कर देना नहीं है। वैदिक आदर्श यह है कि पिछली पीढ़ी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुणों में जिस ऊँचाई पर खड़ी थी, अगली पीढ़ी उससे दस क़दम आगे बढ़ी हुई हो, और पिछलों से बहुत आगे निकल जाय। इस प्रकार हर-एक पीढ़ी पिछली पीढ़ी से बहुत आगे निकलती जाय, और हर-एक २५ साल के बाद मानव-समाज में एक आश्चर्य-जनक उन्नति दिखाई दे। आज अगली पीढ़ी पिछली से आगे बढ़ने के बजाय उससे दस क़दम पीछे हटकर जन्म लेती है, और पैदा होकर आगे बढ़ने के बजाय पीछे की तरफ़ बेतहाशा दौड़ पड़ती है। जो हमारे माता-पिता के क़द और शरीर थे, वे हमारे नहीं हैं; और, जो हमारे दादा-परदादा के शरीर थे, वे हमारे माता-पिता के नहीं हैं। यह दौड़ आगे को नहीं, पीछे को है। वैदिक आदर्श ठीक इससे उल्टा है। वहाँ तो लिखा है—'स्वानां वीरतमः जायताम्'—अर्थात्, आने वाली संतान इतनी वीर हो, जितनी पिछलों में से एक भी नहीं हुई। इसी प्रकार एक और मंत्र में लिखा है—

"अनूनः पूर्णो जायतां अश्लोणोऽपिशाचधीतः"

—संतान 'अनून' हो, उसमें कोई न्यूनता न हो, कमी न हो; और 'पूर्ण' हो। इतना ही नहीं कि उसमें कोई कमी न हो, प्रत्युत वह सब बातों में पूर्ण हो। साथ ही वह 'अपिशाचधीतः' हो, अर्थात् वह पिशाच (बुरे विचारों) की संतान न हो। वैदिक-आदर्श यह है कि ऐसे विचारों को लेकर संतान उत्पन्न की

जाय। वेद के अनुसार विवाह का आदर्श स्त्री-पुरुषों की ऐसी श्रेणी को जन्म देना है, जो पिछलों की अपेक्षा 'वीरतम' हो, 'अनून' हो, 'पूर्ण' हो, और 'पिशाच'-विचारों से मुक्त हो; इसके विपरीत आज ऐसी संतानें उत्पन्न हो रही हैं, जो 'कायर-तम' हैं, 'न्यून' हैं, 'अपूर्ण' हैं और 'पिशाच'-विचारों की हैं। आज बेसमझे-बूझे नें संतानें गले पड़ जाती हैं; ऐसी संतानों का भविष्य क्या हो सकता है ?

६. घर में स्त्री की स्थिति

विवाह के बाद स्त्री की घर में क्या स्थिति होनी चाहिए, इस पर भी वैदिक-साहित्यमें प्रकाश डाला गया है। बहुत-कुछ होनेपर भी आज स्त्री की घर में कोई स्थिति नहीं है। वह पर्दे में लिपटी रहती है, घर में रहती हुई भी वह मानो घर में नहीं है। परन्तु अर्वाचीन इतिहास को छोड़ दिया जाय, तो प्राचीन साहित्य में पर्दे को कोई स्थान नहीं है। जैसे पुरुष अपना मुंह खोलकर चल-फिरसकता है, वैसे स्त्री भी खुले मुंह विचरण करती है। वेद का कथन है—"सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत"—"यह मंगल करने वाली वधू है, इसे आकर देखो।" पर्दे के ज़माने में अगर कोई अपने मित्रों से कह बैठे कि मेरी स्त्री को आकर देखो, तो लोग उसका नाक में दम कर दें। हम इतने गंदे हो गए हैं कि वैदिक साहित्य का यह ऊँचा भाव कि पति अपनी पत्नी का अपने मित्रों से परिचय कराए—हमारे गले के नीचे नहीं उतर सकता। वैदिक-आदर्श के अनुसार पति-पत्नी का तो विवाह से पहिले ही परिचय होना चाहिए। हमारा गंदा समाज यह समझता है कि किसी स्त्री का पति, पिता, पुत्र या भाई के सिवा किसी अन्य पुरुष से परिचय होगा, तो ज़रूर गिरावट की आशंका रहेगी, परन्तु

भारतीय आदर्श तो एक ऐसा समाज उत्पन्न करना चाहता है, जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों से और पुरुष स्त्रियों से ऐसे ही स्वतंत्र रूप से मिल-जुल सकें, जैसे पुरुष पुरुषों से मिलते हैं, या स्त्रियाँ स्त्रियों से मिलती हैं। हमारी प्राचीन विचार-धारा में स्त्री को घर में लाकर कोठरी में बन्द नहीं कर दिया जाता, वह पर्दे में क़ैद नहीं रहती। वह ऐसी ही स्वतंत्र विचरती है, जैसे समाज में पुरुष और इसके साथ उसके गिरने की कोई आशंका भी नहीं रहती। हमारी प्राचीन परंपरा में ऐसे ही समाज की कल्पना की गई है जो वर्तमान कल्पना के अनुकूल है।

योरप में स्त्री को पुरुष की 'उत्तमार्ध' (Better half) कहते हैं; परन्तु हमारे यहाँ उसे 'अर्धाङ्गिनी' (Equal half) कहा गया है। वहाँ उत्तमार्ध (Better half) होते हुए भी स्त्री की यह स्थिति है कि कन्यादान के समय सारा कार्य लड़की का पिता अकेला करता है। वह न हो, तो लड़की का चचा कन्यादान का अधिकारी है, परन्तु वैदिक-विवाह में कन्यादान की विधि तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती, जब तक कन्या के पिता के साथ उसकी माता भी यज्ञ-वेदी पर नहीं बैठती। वैदिक मर्यादा का कोई यज्ञ पूर्ण नहीं समझा जाता, जब तक यजमान और यजमान-पत्नी दोनों भाग न लें। जिन लोगों की मर्यादा किसी समय इतनी ऊँची रही हो, उनके यहाँ लड़कियों की शिक्षा तक बंद कर दी गई, यह समय का ही फेर था, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वैदिक-आदर्श में स्त्रियों को स्त्री होने से किसी बात की रुकावट नहीं थी। पुरुष तथा स्त्री, ऊँच तथा नीच, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, सबको राज्य की तरफ़ से अपनी योग्यता के विकास के लिए समान अवसर मिलना चाहिए, उन्नति का एक-जैसा तथा पूरा-पूरा मौक़ा मिलना चाहिए,

यही भारतीय विचार-धारा की घोषणा है। यजु० (२६।२) में कहा है—

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।"

वैदिक साहित्य के अनुसार स्त्री को शिक्षा प्राप्त करने का पूरा-पूरा अधिकार है, और उतना अधिकार है, जितना पुरुष को। इसके सिवा उसे वे सब दूसरे अधिकार भी प्राप्त हैं, जो पुरुष को हैं। वेद में स्त्री तथा पुरुष के अधिकारों में कोई भेद नहीं किया गया।

ऋग्वेद (१०।१५९) में तो यहाँ तक कहा है—

"अहं केतुरहं मूर्धा अहमुग्रा विवाचनी।"

अर्थात्, मैं समाज को मार्ग दिखानेवाली पताका हूँ, मैं समाज का सिर हूँ, मैं बड़ा अच्छा विवाद करने वाली वकील हूँ।

इसी सूक्त में आगे कहा है—

"यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च।"

अर्थात्, मैं इन वीरों की राज्ञी हूँ, इस सेना की अभिनेत्री हूँ। एक स्त्री, जो विवाहिता है, अपने विषय में कहती है—

"मम पुत्राः शत्रुहणाः अथो मे दुहिता विराट्।"

(अथर्व० १४।१।५२)

अर्थात्, मेरे पुत्र शत्रुओं को मारने वाले और मेरी लड़की प्रदीप्त ज्योतिवाली हो।

इन मंत्रों में विवाहिता स्त्री के समाज का मूर्धन्य होने, उसके वकील तथा सेनापति होने का वर्णन पाया जाता है। इसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि हमारा प्राचीन-साहित्य स्त्री के अधिकारों को पूरा-पूरा स्वीकार करता है। यह ठीक है कि ये अधिकार उसी स्त्री को प्राप्त होने चाहिएँ, जो अपने बाल-बच्चों के प्रति अपने कर्तव्य का भली प्रकार पालन कर रही हो, या जिसने

बाल-बच्चों को पालने की कोई ज़िम्मेदारी अपने ऊपर न ली हो। बाल-बच्चों की देख-रेख खोकर किसी स्त्री को इन कामों में हाथ डालने का अधिकार नहीं है। आज योरप में स्त्रियाँ रोटी का टुकड़ा कमाने के लिए जीवन-संग्राम में जा पड़ी हैं, इससे उनका गृहस्थ-जीवन उजड़ गया है, क्योंकि गृहस्थी का चलाना और रोटी के लिए कशमकश करना दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। वैदिक-आदर्श में उसी पुरुष को विवाह करने का अधिकार है, जो विवाह से पहले--'ममेयमस्तु पोष्य।'--अर्थात्, मैं इसका भरण-पोषण करूँगा, इस बात का ऐलान कर सके, वह एक सभा में खड़ा होकर यह घोषणा कर सके कि वह अपनी पत्नी का और बाल-बच्चों का पालन-पोषण कर सकेगा। शायद रेप में स्त्री को पुरुष का 'उत्तमार्ध' (Better half) इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह बाल-बच्चों की देख-रेख भी करती है, और पुरुष के मुक़ाबले में रोटी भी कमा लाती है। वह ख़ुद ही पुरुष से 'उत्तम' (Better) हो गई। वैदिक-आदर्श के अनुसार तो वह 'अर्धाङ्गिनी' (Equal half) है। पुरुष रोटी कमाकर लाता है, और स्त्री बाल-बच्चों की देख-रेख करती है। उन्होंने अपने काम का इस प्रकार बँटवारा कर रक्खा है। वैदिक-आदर्श के अनुसार स्त्री-पुरुष में एक-दूसरे से अच्छा-बुरा होने का कोई मौका नहीं है। दोनों का क्षेत्र अपना-अपना है। दोनों ने श्रम-विभाग के अनुसार रज़ामंदी से भिन्न-भिन्न क्षेत्र चुन लिए हैं। पुरुष के क्षेत्र में स्त्री दख़ल नहीं देती, और स्त्री के क्षेत्र में पुरुष चुप रहता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में काम करें, तो वे दोनों एक-दूसरे से बढ़कर हैं, और इसलिए एक-दूसरे के बराबर हैं।

१०. पत्नी घर की सम्राज्ञी है

हमने देख लिया कि प्राचीन भारतीय आदर्श के अनुसार स्त्री को घर में क़ैद नहीं किया जाता, वह स्वतंत्र रहती है। उसे पर्दे में क़ैद नहीं रक्खा जाता, वह पुरुषों के साथ भी स्वतंत्रता से मिलती है, और समाज को गंदा करने के बजाय उसे गंदा होने से बचाती है। स्त्री इस प्रकार समाज की नैतिक-स्थिति (Moral tone) को ऊँचा बनाए रखती है। हमने यह भी देख लिया कि यदि वह बाल-बच्चों की परवरिश के कर्तव्य को पूरी तरह से निभा रही है, या इस झगड़े में ही नहीं पड़ रही, तो उसे वकालत करने, सेनापति बनने और राज्य के ऊँचे-से-ऊँचे पद तक का भी पुरुष के समान पूरा अधिकार है, परन्तु अधिकतर वह इस कशमकश में नहीं पड़ती, यह काम पति के सुपुर्द रहता है। पति तथा पत्नी दोनों अपने-अपने क्षेत्र में राज करते हैं। अब हमें यह देखना है कि पत्नी का अपने घर में किस प्रकार का राज है?

आज हमारे घरों में स्त्री-जाति की स्थिति दासी से बढ़कर नहीं है। लड़के का विवाह होता है, नई बहू घर आती है, परन्तु उसके साथ उसकी सास का बर्ताव ऐसा होता है, जैसा नौकरानी के साथ। विवाह से पहले यदि नौकरानी होती है, तो बहू आने पर यह समझा जाता है कि अब नौकरानी की क्या ज़रूरत है, बहू जो आ गई, वह सारा काम-काज कर लेगी। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि बहू को काम नहीं करना चाहिए, इस कथन का इतना ही अभिप्राय है कि बहू पर काम का बोझ उसे नौकरानी समझकर डाला जाता है, घर की ज़िम्मे-दार मालकिन समझकर नहीं। सास के हाथों घी का भरा

कनस्तर गिर जाय, तो कुछ नहीं, परन्तु यदि बहू से एक सुई भी टूट जाय, तो सास उसके सिर हो जाती है। तभी आजकल सास और बहुओं की नहीं बनती। वैदिक आदर्श ऐसा नहीं है। वेद में कहा है—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ;
एषा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य।" (अथर्व० १४।१।४३)

—जैसे समुद्र नदियों का राजा है, इसी प्रकार पति के घर में तू सम्राज्ञी अर्थात् महारानी होकर रह। सम्राज्ञी भी कैसी ?

"सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥" (अथर्व० १४।१।१४)

—तुझे तेरा श्वसुर घर की महारानी समझे, तेरे देवर तुझे सम्राज्ञी समझें, तेरी ननदें तेरा शासन मानें और तेरी सास तुझे घर की महारानी माने।

भारतीय-साहित्य स्त्री को घर में यह स्थिति देना चाहता है। माता-पिता का कर्तव्य है कि जब उनका पुत्र विवाहित हो जाय, तो अपने हाथों से घर का राज अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू को दे दें। अपने पुत्र को वे घर का राजा बनाएँ, और पुत्र-वधू को घर की महारानी। इसके बाद वे उस घर में न रहें, और यदि रहें, तो अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू की प्रजा होकर रहें। सास घर के ख़ज़ाने की चाबी नई वधू के हाथों में रखकर उसे घर की मालकिन बना दे। इस आदर्श को सुनकर आजकल की सासें शायद चौंक पड़ें और समझें कि इन बातों को सुनकर उनकी बहुएँ बिगड़ जायंगी। मैं एक बुढ़िया को जानती हूँ, जो बेचारी अंधी है, चल-फिर भी ज़्यादा नहीं सकती, परंतु वह हर-एक चीज़ की चाबी अपने पास रखती है। जब उसके पोते पैसा माँगते हैं, तो वह अपने सिरहाने के नीचे से चाबियाँ

टटोलकर उन्हें पैसे देती है। वह इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकती कि उसकी बहू बच्चों को पैसे दे दे। जब कभी बच्चे लड्डू माँगते हैं, तो वह संदूक खोलकर उन्हें लड्डू देने में घण्टा-भर लगा देती है, और शरारती लड़के यह देखकर कि दादी देख नहीं सकती, चुपके-से एक-एक लड्डू और उड़ा ले जाते हैं। यह बुढ़िया हमारी सासों का नमूना है, जो घर में बहू का राज नहीं देख सकतीं। सभा-सोसाइटियों में भी ऐसी सासों की कमी नहीं है। मंत्री, प्रधान के पदों को जो लोग जन्म-जन्मान्तरों की बपौती जायदाद समझते हैं, और नव-युवकों को आगे नहीं आने देते, वे सोसाइटियों की सासें हैं। प्राचीन भारतीय-आदर्श यह नहीं है। लड़का जब बड़ा हो जाय, तो अपना स्थान उसे दे देना अपने देश की पुरातन मर्यादा है। वैदिक मर्यादा तो यह ह कि पति-पत्नी अपनी आत्मा को इतना विकसित करें कि जब तक उनके लड़के की शादी हो, तब तक वे मोह के बंधन को घर से निकालकर घर के बाहर फैलाने लगें, परार्थ को स्वार्थ बनाने का पाठ सीखते-सीखते अपने क्षुद्र स्वार्थ से सर्वथा ऊपर उठ जाँय। जिसने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके इसमें से निकलना नहीं सीखा, जिसने बंधनों में पड़कर उन्हें काटना नहीं सीखा, वह गृहस्थाश्रम को एक कीचड़ बना लेता है, और स्वयं उसका कीड़ा होकर उसमें रेंगने लगता है। जो पति-पत्नी इस प्रकार गृहस्थाश्रम के कीड़े हैं, वे अपनी बहू के सिर पर अपने ही हाथों से उस साम्राज्य के सेहरे को कैसे बाँध सकते हैं, जो अब तक उनके सिर पर बँधा था। परन्तु नहीं, गृहस्थ का प्राचीन भारतीय-आदर्श यही है। वैदिक घर में नई बहू शृंगार करके प्रवेश करती थी, और उस घर में उसके सास, ससुर, ननदें

और देवर उसे घर की रानी समझकर उसे स्वीकार करते थे। यह उस आदर्श के सामने झुकना था जिस आदर्श का जीवन में क्रियात्मक पाठ सीखने के लिए इस नव-दम्पति ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया है। अब तक इनके माता-पिता ने इस आश्रम में पच्चीस वर्ष तक अपनी आत्मा के विकास का पाठ सीखा था, स्वार्थ की जड़ों में परार्थ का पानी सींचकर परार्थ को ही स्वार्थ बना लिया था। अब ये नौसिखिये भी उसी क्रम में से गुज़रकर जीवन के लक्ष्य को अपने समीप लाने का प्रयत्न करेंगे।

११. गृहस्थ का आदर्श गृहस्थी को छोड़ना है

हमने देख लिया कि विवाह का वैदिक आदर्श क्या है। विवाह खिलवाड़ नहीं है, यह विषय-भोग का साधन नहीं है। अथर्व वेद में पत्नी को सबोधन करके कहा गया है—

"पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्व अमृताय कम्।" (अथर्व० १४।१।४२)

—पति के पीछे चलती हुई अमृत पाने की तैयारी कर! विवाह अमृत पाने की तैयारी के लिए है! इस अमृत को अथर्ववेद के इसी काण्ड में (६४ मंत्र) एक दूसरे स्थल पर समझाया गया है—

"ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ;
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज।"

—पत्नी के पीछे ब्रह्म हो, आगे ब्रह्म हो, आख़ीर तक ब्रह्म हो, बीच में ब्रह्म हो, और चारों तरफ़ ब्रह्म हो। इसी प्रकार ब्रह्म से घिरी हुई पत्नी पति-लोक में राज्य करे। ब्रह्म का अर्थ है —बड़ापन, महानता। यह महानता वही है जिसका इस अध्याय के प्रारम्भ में संकेत किया गया था। हम अब्रह्म हैं, छोटे हैं, बहुत छोटे हैं, स्वार्थ में गड़े हुए हैं, अपने सिवा हमें कुछ नहीं दिख-

लाई देता। विवाह से पति-पत्नी ब्रह्म की तरफ़ जाते हैं, छोटे से बड़े होते हैं, धीरे-धीरे वे बहुत बड़े हो जाते हैं, स्वार्थ के गढ़े से निकलकर परार्थ के समीप पहुँच जाते हैं, उन्हें अपनापन भूल जाता है, और अपने सिवा सब-कुछ दिखलाई देने लगता है। गृहस्थ, मनुष्य को जीवन के इसी आदर्श की तरफ़ ले जाता है। यदि गृहस्थाश्रम मनुष्य को जीवन के इस आदर्श की तरफ़ नहीं ले जाता, तो वह गृहस्थ गृहस्थ नहीं है, वह इस आश्रम की खिल्ली उड़ाना है। इसीलिए गृहस्थ के जितने आदर्शों का ऊपर वर्णन किया गया है, उन सब में ऊँचा आदर्श यह है कि गृहस्थ एक ख़ास समय पर आकर, एक ख़ास मंज़िल पर पहुँचकर, ऐसी स्थिति में पहुँचकर कि जब उसने दूसरों के स्वार्थ को अपना स्वार्थ बनाना सीख लिया है, गृहस्थाश्रम से भी ऊपर उठ जाय, इस आश्रम का भी त्याग कर दे। गृहस्थी में प्रवेश गृहस्थी में से निकलने के लिए है, उसी में बैठे रहने के लिए नहीं। यह जीवन के उद्देश्य को सफल बनाने के लिए एक साधन है, स्वयं कोई लक्ष्य नहीं; यह एक सराय है, निज का मकान नहीं; गृहस्थी को किसी ऊँचे टीले पर पहुँचना है, रास्ते में ठहरना नहीं। गृहस्थ का यह आदर्श उसके सब आदर्शों का शिरोमणि आदर्श है, क्योंकि यदि गृहस्थ इस बात को नहीं समझा, तो वह कुछ नहीं समझा।

प्राचीन-काल में गृहस्थ आश्रम का यही आदर्श समझा जाता था। 'उत्तर-राम-चरित' में एक दृश्य का वर्णन है। राम तथा लक्ष्मण मुनियों के कपड़े पहने हुए हैं, और दोनों इक्ष्वाकु-वंश के प्राचीन राजाओं के चित्र देख रहे हैं। उन चित्रों में इक्ष्वाकु-वंश के सब राजाओं का वानप्रस्थ-आश्रम का चित्र है। इसे देखकर लक्ष्मण कहते हैं—

"पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद् वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम्;
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम्।"

"इक्ष्वाकु-वंश में यह प्रथा थी कि जब वे वृद्ध हो जाते थे, तो लक्ष्मी को पुत्र के हवाले कर दिया करते थे। हे राम! तुमने तो यह जंगल में विचरने का वानप्रस्थियों का बाना बपचन में ही पहन लिया।" दिलीप ने जब वृद्धावस्था आने के कारण वानप्रस्थ लिया, तो उसका वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है—

"अथ सा विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे;
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये;
गलितवयसामिक्ष्वकूणामिदं हि कुलव्रतम्।"

"विषयों से अपने मन को खींचकर दिलीप ने यथाविधि राजा के चिह्न को अपने पुत्र रघु के सुपुर्द किया, और स्वयं देवी के साथ जंगलों की छाया में चला गया। बूढ़े इक्ष्वाकुओं का तो यह कुल-व्रत है।" इसी प्रकार जब रघु बूढ़ा हो गया, और उसका लड़का अज विवाह करके घर आया, तो कालिदास कहता है—

"प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः सन्निवृत्तिं,
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभूत्,
न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय।"

"यदि कुल की धुरी, कुल का स्तंभ——पुत्र——मौजूद हो, और माता-पिता वृद्ध हो जाँय, तो सूर्यवंशी राजाओं में घर में बैठने की प्रथा नहीं है।" इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुंतल में दुष्यंत अपने कुल की परिपाटी का उल्लेख करता हुआ कहता है——

"भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृही भवन्ति तेषाम् ॥"

"जो लोग बड़े-बड़े भवनों में रहा करते हैं, वृद्धावस्था में जाकर वे वृक्षों की जड़ों में अपना आसन जमा लेते हैं।" जिस समय शकुंतला का दुष्यंत से विवाह हुआ है, तब जैसे लड़कियाँ बिदाई के समय अपनी माँ से पूछती हैं, अब मुझे कब बुलाओगी, वैसे शकुंतला ऋषि कण्व से पूछती है, आप मुझे कब बुलाएँगे ? कण्व ऋषि उत्तर देते हैं––

"भूत्वा चिराय चतुरन्तमही सपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।"

"देर तक तू राज्य करती-करती जब अपने लड़के को गद्दी पर बैठा देगी, तब अपने पति के साथ वानप्रस्थिनी बनकर इस आश्रम में आना।"

प्राचीन-काल के वानप्रस्थियों के ये वर्णन हैं। उस समय गृहस्थी २५ साल के बाद घर छोड़कर जंगल में धूनी जा रमाता था। राजा-महाराजा भी बड़ी ख़ुशी से रेशमी कपड़े उतारकर वृक्षों की छाल पहन लेते थे। भारत के बड़े-बड़े शहरों के इर्द-गिर्द वानप्रस्थियों के आश्रम हुआ करते थे। इन आश्रमों से मनुष्य-समाज के लिए आध्यात्मिकता का पवित्र स्रोत बहा करता था। संसार के नाना प्रकार के झंझटों से थके हुए गृहस्थ-समाज के लिए ये वानप्रस्थियों के आश्रम शान्ति का उद्भव-स्थान हुआ करते थे। वे गृहस्थियों को उनका आदर्श चिताते रहते थे। आज वह आदर्श सर्वथा लुप्त हो गया है और इसीलिए हमारा सामाजिक जीवन अत्यंत गंदा हो रहा है।

जिन लोगों को घर छोड़ वनों में चला जाना चाहिए था, वे सभा-सोसाइटियों के मंत्री, प्रधान बनने के लिए लड़ रहे हैं, पार्टीबंदियों के चक्कर में पड़े हुए हैं, एक-दूसरे को नीचा दिखाने में, एक-दूसरे को पछाड़ने में और अपने झूठे गौरव को चार दिन तक और क़ायम रखने में दिन-रात षड्यंत्रों में लगे हुए हैं। यदि वैदिक आदर्शों की कोई स्टेट होती, तो इन सबको घर से निकाल कर बाहर करती, और सामाजिक जीवन को गंदा होने से बचा लेती। गृहस्थ का आदर्श गृहस्थाश्रम को छोड़ देने में है, इसमें पड़े रहने में नहीं। महाराज 'रघु' अपने पुत्र 'अज' को सिंहासन पर बैठाकर जंगल में जा बैठे थे, मुनि याज्ञवल्क्य अपनी संपत्ति का बँटवारा कर तपोवन में चले गए थे। वह दुनियाँ से भागकर नहीं गए थे। वह दुनियाँ में से गुज़रकर गए थे, इसके सुख-दुःख का अनुभव करके गए थे। इसमें से गुज़रते हुए उन्होंने जीवन के महान् आदर्श को सीख लिया था; उनका जीवन छोटे क्षेत्र से निकलकर बड़े क्षेत्र में विचरने लगा था; उनकी आत्मा में से स्वार्थ का बीज नष्ट हो चुका था, और उसमें परार्थ का बीज जड़ पकड़ रहा था; उन्होंने अपने लिए न मर-करदूसरों के लिए मरना सीख लिया था। ऐसे महात्माओं के सम्मुख जब मृत्यु आती थी, तो उनके चरण चूमने के लिए, न कि उनके सिर पर प्रहार करने के लिए। ऐसा दृश्य फिर से देखने के लिए आज आँखें तरस रही हैं। आज उन प्राचीन तपोवनों से निकलते हुए संदेश की तरफ़ कान लगाकर सुनने की आवश्यकता है।

भारत के प्राचीन वैदिक आदर्श के अनुसार गृहस्थाश्रम को तभी सफल कहा जा सकता है, जब आयु के एक ख़ास भाग में आकर जैसे साँप कैंचुली को उतार फेंकता है, वैसे इस आश्रम को

भी छोड़ दिया जाय, और अगले आश्रम में प्रवेश किया जाय। 'गृहस्थ आश्रम का आदर्श' तो 'जीवन के आदर्श' को पूरा करने की शृङ्खला में एक कड़ी है। विवाह का वैदिक आदर्श तभी सफल कहा जा सकता है, और वहीं तक सफल कहा जा सकता है, जब तक और जहाँ तक वह जीवन के आदर्श को सफल बनाता है। जब गृहस्थी उस आदर्श तक पहुँच जाता है, तब अनायास उसके मुंह से निकल पड़ता है—**"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि"**।

इसी आदर्श का दूसरे शब्दों में कठोपनिषद् ने वर्णन किया है——**"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"**।

संसार में एकता देखने में जीवन है, भिन्नता देखने में मृत्यु है। गृहस्थ मनुष्य को भिन्नता की तरफ़ से खींचकर एकता की तरफ़, जीवन की तरफ़, अमरता की तरफ़ ले जाता है—बस, यही विवाह का प्राचीन भारतीय आदर्श है, परन्तु क्या इन ऊँचे आदर्शों का पालन स्त्री को वर्तमान-स्थिति में रखते हुए हो सकता है? हमने सदियों तक स्त्री को सामाजिक-जीवन का अंग ही नहीं समझा, उसे मानो सामाजिक-जीवन में से काट कर अलग फेंक दिया। भारत का प्राचीन आदर्श यह नहीं था। यहाँ के आदर्श के अनुसार स्त्री सामाजिक-जीवन में घुली-मिली थी, उसकी नस-नाड़ी थी क्योंकि गृहस्थाश्रम के जिन महान् आदर्शों का हमने अभी वर्णन किया वे स्त्री के सहयोग के बिना क्रिया में परिणत ही नहीं हो सकते थे।

५

स्त्रियों की स्थिति

किसी मुसलमान भाई के घर जाकर देखिए। यदि पति घर में न हो, तो मजाल है, आप घर में अपने आने का संदेश दे सकें। क्या घर में कोई नहीं? क्या मकान सूना है? क्या किवाड़ों में ताला पड़ा है? नहीं---दर्वाज़े खुले हैं, घर आबाद है, इस वक्त भी कोई अन्दर मौजूद है, परन्तु आपके लिए घर सूना न होता हुआ भी सूना है, किवाड़ खुले होते हुए भी बन्द हैं, आप अपने आने का कोई संदेश नहीं दे सकते! क्या कारण? कारण यही कि घर में जिस तरह मेज़-कुर्सियाँ मकान की शोभा बढ़ा रही हैं, जिस तरह झाड़-फ़ानूस छत से लटकते हुए अलंकार हैं, उसी तरह इस घर में एक जीवित अलंकार है---शायद नया हो, शायद पुराना हो---वह मकानवाले की मिल्कियत है। मालिक-मकान के लिए उसकी स्त्री उसकी संपत्ति है, एक चीज़ है---उन्हीं अर्थों में वह मिल्कियत और चीज़ है, जिन अर्थों में उसकी मेज़ और कुर्सी। वह उसे छिपाकर रखता है---शायद वह उसके चुराये, खोए या छीने जाने से डरता है---घर के आख़िरी कमरे के आख़िरी कोने में गठरी-सी बनकर बैठे रहने का उसे हुक्म है। एक जगह से दूसरी जगह ले जाते समय उस अच्छी तरह लपेटा जाता है; कोना-कोना कपड़े से ढाँपा जाता है; ख़ूब पैक करके उसका पार्सल तैयार

किया जाता है। स्टेशनों पर सबने देखा होगा। उसे गाड़ी में इसी तरह चढ़ाया जाता है, जिस तरह एक बिस्तर को। यही कारण है कि इस खुले आबाद घर में, घर के मालिक के मौजूद न होते हुए, आप किसी तरह भी नहीं जा सकते। यह आवश्यक नहीं कि इस घर की 'गृहिणी' नव-विवाहिता युवती हो—चाहे वह ८० वर्ष की बूढ़ी ही हो—परंतु वह तो दूसरे की चीज़ है, वह ढकी रहनी चाहिए। इस सारे मकान में माल-असबाब है, उसका मालिक यहाँ नहीं है। मकान में माल-असबाब बहुत-कुछ है—मेज़ें हैं, कुर्सियाँ हैं, ग़लीचे हैं, झाड़-फ़ानूस हैं, मुर्गियाँ हैं, घोड़े हैं, स्त्रियाँ हैं—परन्तु जिसके पास आप अपने आने का संदेश दे सकें, ऐसा यहाँ कोई नहीं है।

पुरुष-जाति ने स्त्री-जाति को अपनी जायदाद बना रक्खा है। कहते हैं, स्त्री स्वभाव से ही दबती है—उसमें अपनी इच्छा नहीं होती, वह एक चीज़ है, भोग्य वस्तु है। सैमेटिक लोगों के यही विचार हैं। मुसलमान और यहूदी इसी दृष्टि से स्त्री को देखते आये हैं। यहूदियों की मान्य पुस्तक बाइबिल के पुराने अहदनामे में लिखा है कि ख़ुदा ने मिट्टी से गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि को बना दिया—उनमें रूह नहीं फूँकी। 'आदम' को बनाकर उसमें रूह फूँक दी लेकिन उसीकी पसली में से उसकी स्त्री 'हौवा' को बनाया लेकिन उसमें रूह नहीं फूँकी। इसीलिए पक्के मूसाई-ईसाई और मुहम्मदी पशुओं तथा स्त्रियों में रूह नहीं मानते। यदि स्त्री में रूह नहीं, तो वह माल-मत्ता, असबाब नहीं, तो और क्या है ? इसीलिए सैमेटिक-जाति के लोगों की लड़ाइयों में हाथी-घोड़े की लूट के साथ-साथ स्त्रियों को भी लूटा गया! जिसके पास जितने अधिक हाथी-घोड़े वही बड़ा—बड़े के पास अधिक स्त्रियों का होना भी ज़रूरी हो

गया। बहु-विवाह का अधर्म होना तो दूर, वह व्यक्ति क गौरव की परख बन गया। अतिथियों का सत्कार अपनी उत्तम-से-उत्तम वस्तु के साथ किया जाता है। इतिहास साक्षी है कि अनेक जातियों में अतिथियों का उनकी स्त्रियों पर भी पूरा अधिकार था। स्त्री तो पुरुष का खिलौना है। पुरुष को स्त्री की ज़रूरत पड़ती ह—'स्त्री की ज़रूरत'—इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं। पुरुष चाहे तो स्त्री को जी भरकर पीट सकता है—वह उसकी मिल्कियत जो हुई। पुरुष को स्त्री का मनोवांछित उपयोग करने का पूरा-पूरा अधिकार है—पुरुष स्त्री के साथ जैसा व्यवहार चाहे करे—स्त्री का कर्तव्य है, वह सब-कुछ आँखें मूँदकर सहन करे। पुरुष स्त्री के गहने उतारकर बेच सकता है, उनका बुरे-से-बुरा इस्तेमाल कर सकता है। लोग स्त्रियों को बेचते रहे हैं, बड़ी भारी तिजारत होती रही है। स्त्रियाँ ख़ुद अपने जिस्म को रुपये-पैसे के लिये बेचती हैं। यह सब-कुछ क्यों होता है? क्योंकि स्त्रियों की स्थिति माल-असबाब से बढ़कर नहीं। 'स्वतंत्रता'-शब्द का पुरुष ही उच्चारण करता रहा है, 'स्त्री' और 'स्वतंत्रता'—इन दोनों शब्दों में कोई साहचर्य नहीं रहा।

अब चलिए योरपियन के घर। यहाँ भी गृह-पति अनुपस्थित है, परंतु कोई फ़िक्र नहीं। पाँव की आहट सुनते ही नवयौवन-संपन्ना गृह-पत्नी, शृंगार किए हुए, बूटों की टप-टप आवाज़ करती हुई आपके सामने आ खड़ी होती है। 'चलिए, अंदर चलकर बैठिए, चाय पीजिए। आराम कीजिए। गृह-पति के आने तक पुस्तक लेकर पढ़िए!' मुसलमान भाई के घर में ८० वर्ष की वृद्धा भी आपके सामने आने से हिचकिचाती थी, यहाँ १९ वर्ष की युवति बहुत खुलकर आपसे वार्तालाप करती है। क्यों?

सैमेटिक-जातियों से योरपियन-जातियाँ उन्नत अवस्था में हैं। उन्होंने अपने समाज में स्त्री को ऊँचा दर्जा दिया है। यहाँ स्त्रियों की स्थिति झाड़-फ़ानूस या गाय-भैंस की-सी नहीं, बल्कि उनसे ऊँची है। स्त्री पुरुष की संपत्ति नहीं—वह स्वतंत्र है। वे स्त्री का बहुत आदर करते हैं। स्त्री का पुरुष पर प्रेम का अधिकार है। भ्रमण करने जाते हैं, तो स्त्री पुरुष से दो क़दम आगे बढ़कर चलती है। बच्चा रोता है, तो स्त्री बच्चे को पुरुष के हवाले कर देती है। योरपियन लोग स्त्री के लिए माँ-बाप तक को छोड़ने के लिए तैयार हैं—घर से भागने के लिए उद्यत हैं। पुरुष स्त्रियों के साथ चलकर नाचते हैं। जो पुरुष जिस स्त्री से और जो स्त्री जिस पुरुष से चाहे प्रेम करे—प्रेम की पूरी आज़ादी है, पूछनेवाला कोई नहीं। योरप में पति-पत्नी शादी होते-होते ही घर से जुदा हो जाते हैं।

सैमेटिक-जातियों ने स्त्री को धन-दौलत समझा, उसे पुरुष की क्रीतदासी समझा, विषय-वासना-तृप्ति का एक साधन समझा। योरपियन-जातियों ने स्त्री के स्त्रीत्व-रूप को देखा, उस रत्नों से जड़ दिया, अलंकारों से विभूषित कर दिया, अपने जीवन को उसी के चरणों में समर्पित कर दिया, स्त्री में भोग्य बुद्धि को एक दूसरा रूप दे दिया। स्त्री कष्ट सहन करने के लिए उत्पन्न नहीं हुई; वह अध-खिली चमेली की कली है; कष्ट-रूपी पाला लगने से वह मुरझा जायगी। वह दिन-भर कोकिल-कंठ से गाया करे, वसंत की शीतल पवन के झकोरे से हिलते शाल्मली-पत्र की तरह नाचा करे। चन्द्रमा समुद्र में ज्वार-भाटा उत्पन्न करता है—वह भी मानव-मानस में तरंगें उत्पन्न करती रहे। वह हँसती रहे, खेलती रहे, कूदती रहे, नाचती रहे, गाती रहे—योरपियन-जातियाँ इसी से संतुष्ट हैं। बूढ़ी स्त्रियाँ भी

इनके यहाँ शृङ्गार करती हैं, पाउडर लगाती हैं, दुनिया-भर की नोक-झोंक करती हैं—अपने स्त्री-भाव को क़ायम रखने के प्रयत्न में लगी रहती है।

आइये, अब आपको प्राचीन-भारत के वैदिक-सभ्यता-प्रेमी किसी घर में ले चलें। हिन्दुओं के आजकल के घरों में जाने की ज़रूरत नहीं—आज तो हमने मुसलमानों और अंग्रेजों के सहवास में बहुत-कुछ नया सीख लिया और पुराना भुला दिया है। प्राचीनकाल के क़िसी ऐसे भारतीय गृह में प्रवेश कीजिए, जिसमें प्राचीन ऋषियों की जगाई ज्योति का प्रकाश धीमा नहीं पड़ा। घर क्या है, देव-स्थान है! 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।' आपके दुर्भाग्य से आपके पहुँचने पर यहाँ भी गृहपति बाहर गए हुए हैं। आपके आने की सूचना पाते ही एक नवोद्वाहिता षोडशवर्षीया युवती धीरे-से कपाट के एक तरफ़ आकर खड़ी हो जाती है। देखते ही समझ में आ जाता है कि इसकी गणना माल-असबाब में नहीं की जा सकती; और न यह उछलती-कूदती, बित्ता-भर उठी एड़ी के बूटों को टपटपाती आंग्ल-ललना के समान है। यह आपके सामने खड़ी ह, परंतु इसकी आँखों में दैवी गंभीरता, नम्रता तथा प्रेम चित्रित हैं। वही सत्कार-सूचक शब्द—'आइए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ?' सारा व्यवहार हृदय में 'मातृत्व-भाव' को उत्पन्न कर देता है—हृदय 'मातृ-शक्ति' के सम्मुख आदर-पूर्वक झुक जाता है!

भारतीय वैदिक आर्यों के हृदय में स्त्री का ऊँचा स्थान था। ईंट, पत्थर, रोड़े, पशु-पक्षी की स्थिति से ऊपर उठकर, 'स्त्री-भाव' या समानता की स्थिति से भी ऊपर उठकर वह और ऊपर उठती है—वह पुरुष से भी ऊपर की स्थिति में आ जाती

है। उसमें आत्मा नहीं है, इस कल्पना की जगह शास्त्रों में स्त्री को 'शक्ति' का रूप दिया गया है। 'स्त्री' एक अद्‌भुत शक्ति है—'शक्ति' माता है! आर्य लोग स्त्री में सब भावों की कल्पना करते हुए उसकी 'मातृ-शक्ति' को सदा प्रधानता देते थे। वे स्त्री में शक्ति की पूजा करते थे, क्योंकि शक्ति-शब्द का उच्चारण करते ही उन्हें दिव्य गुणों का स्मरण हो आता था। उनका ध्येय था—'मातृवत् परदारेषु'। पाश्चात्य लोग इस भाव पर हँसते हैं, क्योंकि उन्होंने स्त्री में 'मातृ-भाव' की कल्पना अभी नहीं की। उनकी स्त्रियाँ बूढ़ी होकर भी अपने 'स्त्री-भाव' को शृङ्गार आदि द्वारा क़ायम रखने का प्रयत्न करती हैं—यहाँ प्रारंभ से ही तपस्या का पाठ सीखना पड़ता था। वहाँ 'स्त्री-भाव' में अनिच्छित 'मातृ-भाव' आ पड़ता है—यहाँ 'मातृ-भाव' के साक्षात्कार के लिए अनिच्छित 'स्त्री-भाव' की कल्पना करनी होती थी। वहाँ 'स्त्री-भाव' उद्‌देश्य है—यहाँ वह 'मातृ-भाव' रूपी उद्‌देश्य के लिए साधन था। यही कारण है कि भारतवर्ष के प्राचीन आर्यों में चचा-भतीजे सब इकट्ठे रहा करते थे, आपस में फटे हुए नहीं रहते थे। घरों में लड़ाइयाँ और बटवारे तभी होते हैं, जब नवयुवकों की आँखों के सामने भोग-विलास के स्वप्न फिरने लगते हैं। 'स्त्री' में 'स्त्री-भाव' देखने वाला अंधस्वार्थी अपने बलहीन माता-पिता को छोड़, स्त्री को साथ ले दूर निकल जाता है। स्त्री में 'मातृ-शक्ति' के दर्शन करने वाले प्राचीन आर्य से यह आशा नहीं की जा सकती थी।

आर्यों की विवाह-पद्धति इस बातको और भी स्पष्ट कर देती है। विवाह हृदय का है—जिनके हृदय मिल गए, उनका विवाह स्वयं हो गया, संस्कार तो उसीके बाह्य स्वरूप को दर्शाने के लिए है। आश्चर्य तथा खेद की क्या इससे बढ़कर कोई सीमा

हो सकती है कि जिन्हें सारी उम्र सुख-दुःख में साथ बितानी है, उनकी कोई सलाह न ले, और माता-पिता ही अपनी संतानों के भाग्यों का सदा के लिए निपटारा कर दें। जिनके भाग्य का फ़ैसला करने चले हो, उनकी सलाह बिलकुल नहीं—जिनका कोई सरोकार नहीं, वे मगज़-पच्ची करें! विवाह करने या न करने में संतान की सलाह न लेकर अपनी इच्छा प्रधान रखनेवाले माता-पिता धींगा-धींगी करते हैं, ज़बरदस्ती करते हैं, अनधिकार-चेष्टा करते हैं। यह प्रथा आर्यों में नहीं थी। आर्यों की विवाह पद्धति अद्वितीय थी, उनमें 'स्वयंवर' से विवाह हुआ करता था। 'स्वयंवर' का अर्थ है—'अपने आप वरना'। योरप में प्रचलित 'निर्मुक्त-प्रेम' (Free love) की प्रथा को स्वयंवर कहना भूल है। 'निर्मुक्त-प्रेम' में लड़का-लड़की आज़ाद रहते हैं, उन पर निगरानी रखनवाला कोई नहीं होता। 'निर्मुक्त-प्रेम' का प्रारंभ ही इस प्रकार होता है। पहले-पहल उसे छिपाया जाता है। जिस लड़के-लड़की का प्रेम हो, वे उसे गुप्त रखने की प्राणपन से चेष्टा करते हैं। 'स्वयंवर' में यह भाव क़तई नहीं। लड़के-लड़की का प्रेम है, वे उसे छिपाते नहीं। उनका हृदय-पट उनके माता-पिता के सामने खुला पड़ा है, माता-पिता से कुछ छिपाया नहीं जाता। 'निर्मुक्त-प्रेम' में सारी कार्रवाई—शुरू से आख़िर तक—माता-पितासे छिपाई जाती ह; 'स्वयंवर' में सब-कुछ माता-पिता के सम्मुख होता है, उनके अनुभवों से लाभ उठाया जाता है। इस भेद का आधारभूत कारण यही है कि योरप के निर्मुक्त-प्रेम में स्त्री के 'स्त्री-भाव' को प्रकट करने का प्रयत्न किया जाता है; भारत की स्वयंवर-प्रथा में स्त्री के 'मातृ-भाव' को लक्ष्य म रखकर, स्वयंवर को एक पवित्र कार्य समझा जाता था। पश्चिम में निर्मुक्त-प्रेम नवयुवकों को गढ़े में गिराता है—यहाँ वह हाल

नहीं। निर्मुक्त-प्रेम की प्रथा यहाँ भी थी, परन्तु यहाँ के निर्मुक्त-प्रेम—'स्वयंवर'—का परिणाम तलाक़ नहीं था। यहाँ के निर्मुक्त-प्रेम का आधार स्त्री का 'स्त्री-भाव' नहीं, अपितु 'स्त्री-भाव' में छिपा हुआ 'मातृ-भाव' था। यही कारण है कि योरप के सामाजिक तथा गृहस्थ जीवन को निर्मुक्त-प्रेम की प्रथा ने तबाह कर दिया—भारत को स्वयंवर-प्रथा ने पुरातन सभ्यताभिमानी देशों का कभी मूर्धन्य बना दिया था। इसी उच्च आदर्श के कारण स्वयंवर-प्रथा में यद्यपि निर्मुक्त-प्रेम से होने वाले सब फ़ायदे मौजूद थे, तथापि उसका पागलपन और अंधापन नहीं था। स्त्री की 'मातृ-शक्ति' को समझा जाता था, अतः माता-पिता अपने कर्तव्य का पालन करते हुए अपनी संतान के हृदय को स्वतंत्रता भी देते थे, और उसके प्रत्येक कार्य को अपनी आँखों के सामने भी रखते थे।

'मातृ-शक्ति' की कल्पना को दूर तक पहुंचाया गया था। 'जाया'-शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए मनु (९।८) कहते हैं—'जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः'। स्त्री को 'जाया' क्यों कहते हैं?—क्योंकि पुरुष स्वयं इसके गर्भ से इसका पुत्र बनकर फिर से अपने-आप को जनता है, अपनी ही स्त्री को स्वयं उसकी संतान बनकर 'माँ' कहने लगता है। धन्य ह वे लोग, जिन्होंने इस उच्च भाव को इस पराकाष्ठा तक पहुँचाया था। स्त्री को ऊँची-से-ऊँची स्थिति में क्यों रक्खें? क्योंकि वह अपने उत्पन्न होने के लिए ही तो क्षेत्र है! बीज हीन-क्षेत्र में पड़कर हीन उत्पन्न होगा। पुरुष बीज बनकर अपनी स्त्री के क्षेत्र में उत्पन्न होता है—वह अपने क्षेत्र को हीन किस प्रकार होने दे? पुत्र के लिए कहा है—'आत्मा वै पुत्रनामासि'—पुत्र अपना 'आत्मा' है। पुत्र का 'माँ' कहकर पुकारना तुम्हारा ही तो

'माँ' कहकर पुकारना है, क्योंकि पुत्र तुम्हारा ही तो एक नया संस्करण है। तुम—'एकोहं बहु स्याम्'—अपनी एकता को अनेकता में लाते हुए स्त्री की 'मातृ-शक्ति' का आश्रय लेते हो। जब तुम एक रूप में थे, पति के रूप में थे, तव 'स्त्री' को 'स्त्री' कहकर पुकारते थे। एक मुख से 'स्त्री' उच्चारण करने का बदला चुकाने के लिए पुरुष को अनेक संतानों के रूप में आना पड़ता है, ताकि वह अनेक मुखों से उसी स्त्री को 'माँ' कहकर पुकार सके। तभी तो संतान-हीन होना शास्त्रों में पापों का फल समझा गया है। संतान-हीन पुरुष अपनी 'स्त्री' को 'माता' कहकर नहीं पुकार सकता, इससे बढ़कर और क्या पाप-फल हो सकता है—'स्त्री-शक्ति' में 'मातृ-शक्ति' के दर्शन करने से वह वंचित रह जाता है। 'पुत्र'-शब्द की व्युत्पत्ति इसी भाव पर प्रकाश डालती है। 'पुं नाम नरकात् त्रायत इति पुत्रः'—नरक से पार करने वाला पुत्र है। श्राद्ध करके पुत्र अपने माता-पिता को नरक से पार नहीं कर सकता। अपनी ही स्त्री में पुरुष फिर से उत्पन्न होकर 'स्त्री-भाव' में 'मातृ-भाव' का साक्षात् दर्शन करता है, बस, यही माता-पिता का नरक से पार हो जाना है। 'स्त्री-भाव' का अंत तक वैसा ही बना रहना नरक है, उसका 'मातृ-भाव' में परिवर्तित हो जाना नरक से तर जाना है!

योरोपियन-जातियों के स्त्री के प्रति संबोधन इस भाव को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं। पीयर्सन की स्त्री को संबोधन करते समय उसे मिसेज़ पीयर्सन कहेंगे। मिसेज़ पीयर्सन का अर्थ है—'पीयर्सन की स्त्री'। मिसेज़ पीयर्सन कहते हुए उन्होंने 'स्त्री' में 'स्त्री-भाव' को ही प्रधानता दी। उस भाव का पीयर्सन के साथ ही संबंध है, यह बात स्वीकार करते हुए भी उसमें 'मातृ-भाव' कल्पित करने का विचार उनके दिमागों में आ

तक नहीं सकता। है वह स्त्री ही—हाँ, 'वह पीयर्सन की स्त्री है'—इसे वे स्वीकार करते हैं। भारतीय आर्य-परिवारों में ऐसे संबोधन नहीं सुन पड़ते थे। 'मिसेज पीयर्सन को बुला लाओ' का यही अर्थ है कि 'पीयर्सन की स्त्री को बुला लाओ'। आर्य-परिवारों में कहते थे और अब भी कहते हैं—'मुन्नी की माँ को बुला लाओ'! पीयर्सन के चाहे दस संतान भी क्यों न हों, उसकी स्त्री उसकी स्त्री ही है; लालाजी के तो एक ही संतान है, परन्तु उनकी स्त्री 'मुन्नी की माँ' है! 'स्त्री की स्थिति' का कितना उच्च आदर्श है? यहाँ बालिका को 'अपनी लड़की' समझा जाता है, सम-वयस्क कन्या को 'अपनी बहन' और अपने से बड़ी को 'अपनी माता' समझा जाता था। यहाँ के संबोधन थे—'बेटी', 'बहन जी', 'माता जी'!

जिस प्रकार प्रचलित संबोधन स्त्री की स्थिति को बहुत-कुछ प्रकट करते हैं, उसी प्रकार स्त्रियों के प्रचलित नाम भी उसकी स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। बहुत-सी जातियों में स्त्रियों के नाम 'तोता', 'मैना' आदि जानदार तथा 'गंगा', 'यमुना', 'साँकरी' आदि बेजानदार चीज़ों के पाए जाते हैं। योरपियन जातियाँ स्त्रियों के लिए फूलों और तितलियों के नाम पसंद करती हैं—उनकी स्त्री के प्रति यही भावना है। आर्य नाम इस प्रकार के नहीं होते थे। स्त्री के नाम के साथ 'देवी' सम्बोधन लगाया जाता था। स्त्री में दिव्य-भाव की कल्पना, शक्ति की उपासना आर्यों को छोड़ अन्य किसी में नहीं पाई जाती।

सैमेटिक, योरपियन तथा आर्य—इन तीन जातियों में 'स्त्री-की स्थिति' पर विचार प्रकट करते हुए हमने उन जातियों में फैले हुए मुख्यतया प्रचलित भावों को ही सम्मुख रक्खा है।

मुसलमानों में कई लोग पाश्चात्य विचारों के हो सकते हैं, पाश्चात्यों में भी अनेक भारतीय आर्य विचारों के पाए जा सकते हैं। स्त्री की ये तीन--निकृष्ट, मध्यम तथा उत्तम--स्थितियाँ हैं, उसे इन तीन दृष्टियों से देखा गया है।

वर्तमान भारत अपने पुरातन आदर्श से बहुत नीचे गिर चुका है। पुस्तकों में बहुत-कुछ लिखा धरा है--क्रिया म सब-कुछ लुप्त हो चुका है। मुसलमानों के भारत पर आक्रमण हुए। हमारे कुछ भाइयों ने स्त्री की स्थिति वही बना दी, जो मुसलमान लोग समझते थे। योरपियन जातियाँ यहाँ आईं। हम लोग स्त्री की स्थिति उन्हीं के आदर्श के अनुसार बनाने में जुट गए। इस समय भारत की अशिक्षित स्त्रियों की अवस्था माल-असबाब की तरह की है--इनी-गिनी शिक्षित स्त्रियों की अवस्था पतली, दुबली, नाज़ुक, हवा के एक झकोर में उड़ जाने वाली तितलियों की तरह की है। पढ़ी-लिखी होती हुई भारतीय आदर्श को उज्ज्वल करने वाली बहन हज़ारों में ढूँढने से एक भी मिल जाय, तो ग़नीमत है। आज जब हम स्वतंत्र हो चुके हैं, और अपने भविष्य का निर्माण अपने हाथों करने जा रहे हैं, तब एक-एक क़दम इस बात को सोचते-समझते रखना होगा कि हम भारतीय नारी का कौन-सा नक्शा खींचेंगे, उसे किस प्रकार का बनायेंगे, ताकि हमारे भविष्य की नारी में स्वतंत्र-भारत की कल्पना साकार हो उठे और उसे हमारे समाज में वही स्थिति प्राप्त हो जिस स्थिति को देख कर हम समस्त मंसार के सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा कर सकें।

६

आभूषण

अनेक स्त्रियाँ मानो ज़ेवरों के लिए जन्मती हैं। शौक़ इतना बढ़ गया है कि कई स्त्रियाँ अपने वज़न से भी भारी ज़ेवर अपने कोमल शरीर पर लाद लेती हैं। जो देवियाँ अपने एक साल के बच्चे के बोझ से दबी जाती हैं, वही घड़ियों सोने-चाँदी को फल की तरह हल्का समझती हैं। हमारी बहनें, सोने-चाँदी की ईंटों को, जिनकी शक्ल ईंटों की-सी नहीं होती, दुनियाँ को दिखला-दिखलाकर ढोने में अपनी इज़्ज़त समझती हैं। कइयों का कहना है कि ज़ेवर से शरीर की शोभा बढ़ती है। हम भी इस बात से इनकार नहीं करते। पर हमारी हज़ारों बहनें जिस उत्सुकता से ज़ेवरों पर पागल हैं, जिस प्रकार वे ज़ेवरों के लिए अपने पति तक की नाक में दम किए रखती हैं, जिस-जिस तरह के टेढ़े-मेढ़े, बेडौल और बेढंगे ज़ेवर पहनती हैं, इन सब को देखकर तो यही समझ पड़ता है कि अभी ज़ेवरों को शरीर की शोभा के लिए पहनने वाली बहनें बहुत थोड़ी हैं। ज़ेवर पहननेवाली बहनों में से अधिक संख्या उनकी है, जो आभूषणों को इसलिए पहनती हैं क्योंकि बहुत दिनों से उनके पहनने का रिवाज चला आया है, क्योंकि ज़्यादा ज़ेवर पहनने वाली को सब डाह की नज़रों से देखती हैं, क्योंकि ज़ेवर का इज़्ज़त से कोई ख़ास संबंध माना जाता है।

ज़ेवर से शरीर की शोभा बढ़ती है, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि इसी दृष्टि से ज़ेवर पहनना शुरू हुआ। सच तो यह है कि ज़ेवर से शरीर की शोभा बढ़ती है--इस बात को अब तक भी पूरी तौर से अनुभव नहीं किया गया। ज्यों-ज्यों मनुष्य में 'सौंदर्य-प्रेम' की भावना विकसित होती जा रही है, त्यों-त्यों आभूषणों को भी वास्तविक अर्थों में शरीर का आभूषण बनाने की ओर क़दम बढ़ाया जा रहा है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आभूषणों का इतिहास अभी विकास-क्रम में से गुज़रना शुरू हुआ है, क्योंकि इनके विषय में हम जो-कुछ जानते हैं, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इनका प्रारंभ शरीर की शोभा को बढ़ाने के लिए नहीं, अपितु किसी और ही कारण से हुआ होगा। धीरे-धीरे समय आ गया है, जबकि आभूषणों का उद्‌देश्य मुख्यतः शृङ्गार ही समझा जाने लगा है, परन्तु अभी वह समय भी आने वाला है, जब इसी दृष्टि को सामने रखकर आभूषणों की संख्या, आकृति, रंग, रूप तथा परिमाण में भी परिवर्तन कर दिया जायगा।

ज़ेवरों का पहनना शुरू क्यों हुआ, इस विषय में भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ मिलती हैं। कई लोग तो सौन्दर्य-प्रेम को ही आभूषणों की उत्पत्ति का कारण समझते हैं। परन्तु जैसा लिखा जा चुका है 'आभूषण'-शब्द का अर्थ तो ख़ूबसूरती है, परन्तु उनके पहनने और उनकी बनावट में ख़ूबसूरती लाने की इतनी गुंजाइश है कि उसे देखते हुए यह समझ में ही नहीं आता कि ऐसी बेढंगी चीज़ों से किसके शरीर की शोभा बढ़ती होगी! यह देखते हुए कइयों का कहना है कि आभूषणों का पहनना किसी और ही कारण से शुरू हुआ होगा, परन्तु सौन्दर्य का उपासक मनष्य उन्हें भी सुन्दर बनाने की धुन में है।

विकासवाद के पंडित हर्बर्ट स्पेंसर ने आभूषणों की उत्पत्ति पर लिखते हुए बहुत मनोरंजक विचार किया है। उनका कहना है कि पुरुष के आभूषणों की उत्पत्ति उसकी जंगली हालत वा उसके शिकारीपन से हुई है। पहले-पहल वह जंगल में रहता था और शिकार से अपना निर्वाह करता था। जिन पशुओं को वह मारता था, उनकी खाल पहन लेता था। उनके दाँत, पंजे, सींग गले में डालकर टाँग लेता अथवा सिर में जड़ लेता था। इन वस्तुओं से वह दूसरों पर रोब जमाता था, क्योंकि इन्हें देखकर सब उसकी वीरता के क़ायल हो जाते थे। पशुओं को मारकर उनके शरीर का कोई भाग वह अपने साथ निशानी के तौर पर रखता था, क्योंकि उससे उसकी वीरता का परिचय मिलता था। शोशोन-जाति में रीछ के पंजों और नाख़ूनों को वही धारण कर सकता था, जिसने उसे मारा हो, यह उसके गौरव का चिह्न समझा जाता था। मानडन-जाति का मुखिया अपने गौरव को दिखाने के लिए भैंस का सींग अपने सिर पर लगाता था। जंगली लोग जिस पशु को मारते हैं, उसकी चमड़ी सिर पर लगा लेते हैं, जिससे आगे चलकर शिरस्त्राण का काम भी लिया जाने लगा है। शिर पर पशुओं के निशान धारण करने की प्रथा ही विकसित होती हुई पहले शिरस्त्राण और फिर मुकुट का रूप धारण कर गई है, इसलिए प्रायः मुकुटों का रूप या तो पशुओं के सिर के समान होता है, या उस पर किसी पशु का चित्र रहता है। जिस पुरुष ने जिस पशु को मारा हो, उसके चिह्न को वह सदा अपने पास रखता है। युद्धों में उस चिह्न को दिखा सकने के लिए उसे झंडे पर लगा दिया जाता है। धीरे-धीरे जो व्यक्ति किसी समाज का मुखिया हो जाता है, उसके पशु का चिह्न भी उसी समाज का मुख्य चिह्न

हो जाता है, और उसीसे समयान्तर में जातीय झंडे की कल्पना उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि झंडा एक चिह्न-मात्र है। ज़ुलु लोग चीते की खाल को पहनने और उसी पर बैठने में अपना गौरव समझते हैं। इसी भाव का विकास होते-होते अब राजसिंहासनों के दोनों तरफ़ शेरों के तथा किन्हीं अन्य हिंसक पशुओं के चिह्न पाए जाते हैं। विकासवादी अपने विचारों की शृङ्खला में यहाँ तक पहुँच जाते हैं कि वे कपड़ों का पहनना भी मनुष्य के शिकारीपन की निशानी समझते हैं। आख़िर, कपड़े भी तो आभूषण ही हैं, और आभूषण उसकी शिकारी हालत की सफल-विजयों के चिह्न हैं। जंगली लोग जिस जानवर को मारते थे, उसकी चमड़ी से शरीर को ढाँप लिया करते थे। यही कारण है कि अब भी सभ्य-समाज में भिन्न-भिन्न जानवरों की खाल के कोट, कंबल आदि पहनने में विशेष गौरव अनुभव किया जाता है, और जानवरों की चमड़ी के रंग के कपड़े भी तैयार किए जाते हैं। जिस समय तक रुई तथा धातु का प्रयोग होना शुरू नहीं हुआ था, तब तक तो जिन जानवरों को मारा जाता था, उन्हीं की खाल, उन्हीं के दाँत, पंजे, सींग आदि धारण किए जाते थे। परंतु ज्यों-ज्यों मनुष्य ने रुई और धातु का उपयोग करना सीखा, त्यों-त्यों उसकी विजय की इन निशानियों ने वस्त्र, मुकुट, पताका, जातीय झंडा और सिंहासन का रूप धारण कर लिया, परन्तु इन निशानियों के आधार में वही जंगली जानवर थे जिनका वह शिकार करता था।

मनुष्य, जहाँ शिकार करता था, वहाँ साथ-ही-साथ समय-समय पर अपने दुश्मनों से लड़ाइयाँ भी लड़ता था। शिकार करने पर मरे हुए पशु का दाँत, सींग वा पंजा उसे मिल जाता था, परन्तु अपने-जैसे लोगों के साथ युद्ध में उसे शत्रु के घर भाग

जाने पर उससे छोड़ी हुई किसी भी वस्तु को विजयी समाज बड़े गौरव से अपने पास रखता था, और पराजितों के मुखिया के अस्त्र-शस्त्र को विजितों का मुखिया बड़ी शान से धारण किया करता था। चिमिमेक-जाति के लोग पराजित शत्रुओं के सिर की चमड़ी इस प्रकार उकेल लेते थे कि वह उनके सिर पर ठीक बैठ जाती थी। जब तक वह सड़ न जाती थी, तब तक वे उसे नहीं उतारते थे। पुरुषों में अनेक प्रकार के शस्त्रों का धारण करना इसी प्रकार चला होगा। कई जातियों में तलवार तथा भाला केवल मुखिया ही धारण कर सकता है। आजकल राजा लोग राजदंड धारण करते हैं, यह भाले का ही छोटा रूप है। पहले कहा जा चुका है कि पताका की प्रथा हिंसक पशुओं के संहार से चली, परंतु कइयों का कथन है कि पताका भाले का ही संक्षिप्त रूप है। पराजित मुखिया का भाला जब विजित मुखिया के हाथ में आ जाता होगा, तब वह सदा उसे अपने पास रखता होगा। वही विजय-चिह्न पताका के रूप में अब तक चला आता है। अब भी देखा जाता है कि पैरुवियन-जाति के लोग अपने भालों को रंग-बिरंगे पंखों से सजाते हैं, और युद्ध के समय एक-दूसरे को पहचानने का उन्हीं से काम चलता है। मनुष्य के वस्त्र, आभूषण, अलंकार, सजावट के सामान—सब उसकी जंगली, शिकारी हालत को सूचित करते हैं। प्रारंभ से अंत तक ये आभूषण उसके पशुओं तथा शत्रुओं के साथ युद्धों में प्राप्त विजयों के ही चिह्न हैं। इन चिह्नों को रुई तथा धातु के इस युग में वस्त्रों, आभूषणों तथा अलंकारों का रूप दे दिया गया।

जहाँ पुरुषों के आभूषणों में हम उसकी विजय के चिह्न पाते हैं, वहाँ स्त्रियों के आभूषणों में पुरुष के द्वारा स्त्री की पराजय के चिह्न स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। पुरुष ने पशुओं को मारा,

शत्रुओं से दंगल लड़े—उन विजयों के चिह्न उसके आभूषण बने। पुरुष ने स्त्री को क़ाबू किया, उसे क़ैद रक्खा—और उसकी पराजय के चिह्न सदा के लिए उसके साथ बाँध दिए; वही दासता के चिह्न स्त्री के आज आभूषण समझे जाते हैं, और स्त्रियाँ दासता के इन चिह्नों को बड़ी ख़ुशी से धारण करती हैं। महाशय एम० लेनन अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव मैरेज' में लिखते हैं कि जंगली-समाज में घर बैठाकर तो कोई किसी को पालता न था, प्रत्येक को अपने परिश्रम पर अवलंबित रहना होता था, और क्योंकि स्त्रियाँ निर्बल होने के कारण परिश्रम नहीं कर सकती थीं, इसलिए लड़की को पैदा होते ही मार दिया जाता था। हमारे समय में भी स्त्रियों के पालन-पोषण से बचने के लिए अनेक माता-पिता पत्थर का हृदय कर लड़कियों को पैदा होते ही यमद्वार पहुँचाते रहे हैं। इस प्रकार जब जंगलियों के गिरोहों में स्त्रियों की संख्या कम होने लगी, तो वे अपनी नज़दीकी रिश्तेदारी की लड़कियों से भी शादी करने लगे, और मौक़ा पाकर दूसरे गिरोहों से स्त्रियों को डाका मारकर उठा लाने लगे। स्पेंसर महोदय का कहना है कि सफल-युद्ध का अवश्यंभावी परिणाम स्त्रियों की लूट हुआ करता था। उन लोगों में स्त्रियों की स्थिति उच्च न थी, इसलिए स्त्री को जंगम-संपत्ति समझा जाता था। जिस का दाँव चलता, उसे उड़ा लेता था। इस प्रकार लूट-खसोट से पकड़ी हुई स्त्रियों को क़ाबू में रखने के लिए उन्हें बाँधकर रक्खा जाता था, और तभी से स्त्रियों के साथ दासता के कुटिल भावों का प्रारंभ हुआ। तब से लेकर स्त्रियों को इतने घुटे हुए वायु-मण्डल में रक्खा गया कि पीछे चलकर दासता ही उनके लिए स्वाभाविक हो गई, और वे उसे स्वतंत्रता से भी बढ़कर चाहने लगीं! स्त्रियों की दासता का भाव यहाँ तक बढ़ा कि कई जातियों में विवाह का अर्थ

स्त्री को ज़बरदस्ती पकड़कर अपनी दासी बना लेना हो गया। जब कोई लड़की विवाह के लिए उत्सुक भी होती, उसके लिए भी कम-से-कम युद्ध का नाटक करना ही आवश्यक समझा गया। 'स्त्री युद्ध में जीती हुई संपत्ति है'—इसी भाव से प्रेरित होकर विवाह-विषयक बहुत-से लज्जा-जनक घृणित रीति-रिवाज़ अब भी चले हुए हैं। वर्क हार्ट महोदय अरब की सिनाई स्त्रियों के विषय में लिखते हैं कि "वे अपने प्रेमी के लिए कितनी ही उत्सुक क्यों न हों, उन्हें उसके साथ लड़ना ही होता है, वे उसे पत्थर मारकर दूर करने की कोशिश करती हैं।" पिड्राहिट महोदय मूज़ों स्त्रियों के विषय में कहते हैं कि "सगाई हो जाने के बाद वर वधू के घर में आकर तीन दिन तक उसे अपनी ओर खींचने की कोशिश करता था, परन्तु वह उसे लाठी और मुक्के मारकर दूर भगाती थी, और चौथे दिन उसकी रोटी पका कर उसके साथ शादी कर लेती थी। मापुचास लोगों में शादी के समय लड़की के रिश्ते की स्त्रियाँ डंडे और पत्थर लेकर उसकी रक्षा करती हैं, और लड़की चाहे कितनी ही इच्छुक क्यों न हो, उसे अनिच्छा ही दिखानी होती है।" पहले स्त्रियों को लूटा जाता था, और जब लूटने की ज़रूरत न रही, तब भी ऐसे रीति-रिवाज़ बाक़ी रह गए, जिनका अभिप्राय यही रहा कि वह यद्ध में जीती हुई चीज़ है।

दासता का यह भाव सीमा तक पहुँच गया, जब कि मालिक़ के मरने पर उसकी दासियों तथा स्त्रियों को मारा जाने लगा। वीरापाज़ के इंडियनों में जब कोई बड़ा आदमी मरने लगता था, तब उसकी दासियों को पहले ही मार दिया जाता था, ताकि वे उस लोक में अपने स्वामी के लिए स्थान तैयार करें। प्राचीन काल में दासता का बोझ स्त्री-जाति पर ही था, और इस

दासता के वातावरण में रहते-रहते उसकी यह अवस्था हो गई थी कि वह इसे अपने लिए स्वाभाविक समझने लगी थी। यन्का-जाति का एक मुखिया जब मरने लगा, तो उसकी स्त्रियों ने उससे पहले मरने के लिए बहुत कोशिश की। इस प्रकार मरने वालों की संख्या इतनी थी कि अफ़सर को आज्ञा देकर दूसरी स्त्रियों का मरना रोकना पड़ा। जिन्हें मरने की आज्ञा मिल चुकी थी, उन्होंने जब क़ब्र बनने में कुछ देर देखी, तो स्वयं बालों से लटक-लटक कर मर गईं। चिबका लोगों के विषय में साइमन महोदय का कथन है कि उनमें भी मालिक के साथ जो स्त्रियाँ गड़ना चाहती थीं, उन्हें ज़िंदा ही गाड़ दिया जाता था, और वे दबकर दम घुटने से मरती थीं। कोगों का राजा जब मरा, तब उसकी दर्जन के लगभग युवती स्त्रियाँ उसी के साथ क़ब्र में कूद पड़ीं, ताकि अगले संसार में भी उसकी दासता करें। ये स्त्रियाँ अपने मालिक की सेवा के लिए इतनी उत्सुक थीं कि कौन पहले मरे, इसी बात की कशमकश में उन में से कइयों ने एक-दूसरे को मार डाला। अब निस्संदेह स्त्रियों में से दासता का भाव निकलता जा रहा है, परन्तु अब भी पुराने भाव अधिकाँश में बने हुए हैं, और स्त्री-जाति में पूर्ण स्वतंत्रता के भाव विकसित होने में शताब्दियों की देर है। दासता उनकी रग-रग में भरी हुई है। वे सहस्रों वर्षों से उसीमें पाली-पोसी गई हैं। स्त्री-जाति का पिछला इतिहास उसकी पुरुष के प्रति जघन्य दासता का लज्जा-जनक इतिहास है, जो कि मानव-जाति के मस्तिष्क पर कलंक के तौर से अब भी बना हुआ है।

स्त्रियों के आभूषण इसी दासता के चिह्न है। प्राचीन-काल में दासों के कान, नाक छेदकर, उनमें छल्ले डालकर, उन्हें रस्सियों से बाँध-कर जहाँ ले जाना होता था, ले जाते थे। असिरियन

शिल्प को देखने से पता चलता है कि युद्ध में पकड़े हुए क़ैदियों की नाक में छेद करके, उसमें छल्ला डालकर क़ैदी को रस्सी से बाँध देते थे। जब दासियों अथवा दासों को युद्ध में जीतकर लाया जाता था, और जैसा पहले लिखा जा चुका है, उस समय दासता स्त्रियों तक ही सीमित थी, तब उनके हाथों में, पैरों में, गले में, कमर में रस्सी बाँध दी जाती थी, नाक और कान में छेद कर दिए जाते थे, और इस भय से कि वे भाग न जावें, उन्हें बाँध कर रक्खा जाता था। आजकल भी क़ैदी के हाथों में हथकड़ियाँ, पैरों में बेड़ियाँ और कमर में रस्सी बाँध देते हैं, ताकि वह भाग न सके। आगे चलकर वे स्त्रियाँ स्वयं क़ाबू में आ जाती थीं, वे अपना भाग्य दासता में काटना निश्चित समझती थीं, भागने की कशमकश करना छोड़ देती थीं। बाल-बच्चे हो जाने पर तो उनके भाग्य का अन्तिम निर्णय ही हो जाता था, क्योंकि जहाँ रस्सियों आदि के बंधन उन्हें नहीं भागने देते थे, वहाँ अब बच्चों से प्रेम का बंधन उन्हें जकड़ लेता था। ऐसी अवस्था में रस्सी आदि से बाँध रखने की आवश्यकता न रहती थी। परन्तु फिर भी पुरुष का अविश्वास स्त्री को स्वतंत्र विचरने न देता था। मनुष्य में लोभ की अथवा संग्रह की प्रवृत्ति स्वभावतः होती है। थिलिंकीट-जाति के लोग लोहे की चीज़ों और मनकों को इतना चाहते हैं कि अपने बच्चे दे-देकर उन्हें मोल लेते हैं। इसी लोभ की प्रवृत्ति का फ़ायदा उठाकर स्त्रियों के बंधन बहुमूल्य बनाए जाने लगे। हाथों में रस्सी बाँधने के स्थान पर लोहे का कड़ा डालकर स्त्री के कड़े को रस्सी से बाँधा जाने लगा। उससे जहाँ स्त्री लोभ-वश बंधन के लिए तैयार हो गई, वहाँ पुरुष का काम भी सहज हो गया। धीरे-धीरे बाँध रखने की आवश्यकता जाती रही, परन्तु क्योंकि अब बंधन बहुमूल्य वस्तु बन

चुके थे, इसीलिए स्त्रियों ने उन्हें उतारना न चाहा। उन्हीं में परिष्कार होने लगा। परिष्कार होते-होते अब समय आ चुका है, जब हाथ की हथकड़ियाँ सोने के 'कड़ों' का रूप धारण कर चुकी हैं, पैरों की बेड़ियाँ, 'पटरियाँ' कहाती हैं, जो कभी-कभी तो इतनी भारी होती हैं कि अब भी उनसे चलना कठिन हो जाता है। गले की रस्सी 'ज़ंजीर' कहलाती है, जो बड़ा अच्छा ज़ेवर समझा जाता है। इसी रस्सी के 'गुलूबंद', 'हार' आदि दूसरे ज़ेवर बन गए हैं, जो सब स्त्री-जाति की क़ैद की निशानियाँ हैं! कमर की रस्सी को 'तगड़ी' कहने लगे हैं, कानों के छल्ले 'बालियाँ' कहाती हैं, और नाकों के छल्ले 'कोक' और 'नथ' का रूप धारण कर चुके हैं। इस समय ये ज़ेवर बहुत सुन्दर लगते हैं, और संभव है, इनमें और भी उन्नति हो, परन्तु ये सब स्त्री-जाति की प्राथमिक-दासता के चिह्न हैं। इनमें से कई ज़ेवर तो विकसित होते-होते ज़ेवर कहलाने के लायक़ हो गए हैं, परन्तु कई तो स्त्रियों के क़ैद की निशानियाँ ही नहीं, क़ैद के कारण बने हुए हैं। उनके कारण वे हिल-जुल ही नहीं सकती। पठानों की स्त्रियों के कानों में सहस्रों छेद किये रहते हैं, और हर-एक छेद में एक-एक चाँदी का छल्ला होता है। उनका कान अक्सर उन छेदों के कारण पका रहता है, और सारा-का-सारा छलनी हो जाता है। राजस्थान की स्त्रियाँ सारे हाथ में हाथी दाँत की चूड़ियों को इस तरह भर लेती हैं कि हाथ हिलाना मुश्किल हो जाता है। यही हालत उनके पैरों की रहती है। जिन स्त्रियों के लिए अपना बोझ उठाना ही मुश्किल होता है, वे भी पैरों को लादे रहती हैं। घर की बूढ़ियाँ कहती हैं कि बहू के घुंघरू बहुत सुन्दर बजते हैं, परन्तु उन्हें क्या मालूम कि बहू कितने बोझों से लदी हुई है! बहू क्या है,

बच्ची है, जो छम-छम पर ही रीझ जाती है। उसकी मनोवृत्ति भी इसी प्रकार की हो जाती है। वह सचमुच इसमें आनन्द का अनुभव करती है। इस प्रकार के अन्य भी बहुत-से ज़ेवर हैं, जो आज भी शरीर को अलंकृत करने के स्थान पर विकृत ही करते हैं, और जो, जिस घृणित उद्देश्य से वे चले थे, उसी उद्देश्य की अब भी उद्घोषणा कर रहे हैं।

पहले लिखा जा चुका है कि पुरुषों के ज़ेवर उनके हिंसक पशुओं को मारने तथा युद्धों में विजय प्राप्त करने के गौरव-युक्त चिह्न हैं। स्त्रियों के ज़ेवर उनकी दासता की निशानियाँ हैं। उन दासता के चिह्नों पर भी पुरुषों ने अपनी विजय के निशान छोड़ दिए हैं। ज़ेवरों में भी जानवरों की—हाथी, शेर आदि की—शक्लें देखी जाती हैं। इन शक्लों के अतिरिक्त पुरुषों ने जिन पशुओं को मारा, उनके जिस्म की निशानियाँ जहाँ अपने पास रक्खीं, वहाँ स्त्रियों को भी दीं। इसीलिए स्त्रियाँ हाथी के दाँत, शेर के पंजे तथा बाल आदि के आभूषण पहनने में अपना गौरव समझती हैं। पुरुषों के ज़ेवर जो स्त्रियों के पास हैं, उन सब में पुरुषों की विजय लिखी हुइ है, और स्त्रियों के ज़ेवरों में स्त्रियों की पराजय लिखी हुई है—दोनों के ज़ेवरों पर दोनों का इतिहास लिखा हुआ है।

कइयों का कहना है कि सुन्दरता अथवा उपयोगिता की दृष्टि से वस्त्र तथा आभूषण पहने जाते हैं। सुन्दरता के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। यह कहना संदिग्ध है कि उपयोगिता को दृष्टि में रखकर आभूषणों आदि का प्रयोग शुरू हुआ है। महाशय स्पीक लिखते हैं कि आफ्रिका के जंगली लोग सुन्दर-सुन्दर बालों की खाल को वर्षा के समय उतारकर बचा लेते थे, और उस समय नंगे फिरते थे। उन्हें अपनी उतनी

फ़िक्र न थी, जितनी खाल की सुन्दरता को क़ायम रखने की। शिलुक-जाति के लोग नंगे फिरते हैं, और मिलने-जुलने के समय रंग-बिरंगे कपड़े पहन लेते हैं। टहीटी-जाति में उच्च घराने के लोग बहुत ज़्यादा कपड़े पहनते हैं। वर्तमान सभ्यता के युग में भी सख़्त गरमी के समय कसे कपड़े पहने हुए अनेक सभ्य व्यक्ति देखे जाते हैं, जो हवा के लिए कुर्ते के बटन खोल देना असभ्यता समझते हैं। आफ्रिका के फंडाह लोग अपने शरीर को कपड़ों से लपेटकर, बहुत मोटा बनाकर उपहासजनक बना लेते हैं। कासीम के अरबी लोग पहले एक कुर्ता पहनते हैं, फिर दूसरा, फिर तीसरा, और फिर चौथा, इस प्रकार जितने कुर्ते पहन सकते हैं, पहनते हैं। उनमें कपड़ों और आभूषणों को प्रतिष्ठा का चिह्न समझा जाता है, उपयोगिता का नहीं। इनकी उपयोगिता से कोई इनकार नहीं करता, इनके सुन्दर होने को भी सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु इनके प्रारंभ होने के विषय में ही कइयों का कथन है कि ये पहले-पहल मनुष्य के जंगली हालत में किए हुए शिकार आदि में प्राप्त हुई प्रतिष्ठा के चिह्न थे। पीछे से इनकी उपयोगिता तथा सुन्दरता को देखकर इनमें उन्नति होती गई। पुरुष के वस्त्र तथा अलंकार उसकी विजयके चिह्न थे, स्त्री के उसकी पराजय के।

हमने देख लिया कि वर्तमान-काल में प्रचलित पुरुष तथा स्त्री जाति के वस्त्र और आभूषण विकासवाद की दृष्टि से पुरुष की 'विजय' तथा स्त्री की 'पराजय' के चिह्न हैं। हमने यह भी देखा कि 'उपयोगिता' तथा 'सुन्दरता' की दृष्टि से अब इन्हें सुन्दर तथा उपयोगी बनाया जा रहा है। हम भी इस उद्योग के पक्ष में हैं, परन्तु उसके साथ ही वस्त्रों तथा आभूषणों के इतिहास में स्त्री-जाति के प्रति एक संदेश है। यदि यह सच है

कि स्त्रियों के आभूषण उनकी सदियों की दासता के चिह्न हैं, तो क्या ये चिह्न ऐसे ही बने रहेंगे? क्या उनके लिए हमारी बहनों का मोह बढ़ता ही चला जायगा? क्या जिस प्रकार वे उनके बोझ से अपने को लादती हैं, उसी प्रकार अपनी आगामी संतति को भी लादती ही चली जाँयगी? यदि ज़ेवरों को रखना ज़रूरी ही समझा जाय, तो क्या वे इन दासता के चिह्नों का त्याग कर उनमें उचित सुधार तथा परिवर्तन करने के लिए तैयार हैं? इन प्रश्नों का स्त्री-समाज की तरफ़ से जैसा भी उत्तर दिया जायगा, उसी से पता चल जायगा कि स्त्रियों ने आभूषणों के इतिहास के संदेश को कहाँ तक समझा है।

७

पर्दा

स्त्री-जाति का वह इतिहास, जो हमसे बहुत अधिक नज़दीक का है, स्त्रियों की दासता का इतिहास है। अत्यंत अधिक प्राचीन युग में क्या था, क्या न था, इस पर विद्वानों का सदा से मतभेद रहा है, और संभवत: रहेगा। कई कहते हैं, प्राचीन-काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची थी, कई कहते हैं, बहुत नीची थी; परन्तु इसमें किसी को सन्देह नहीं कि अत्यंत प्राचीन-काल को अगर छोड़ दिया जाय, और जिस काल में से निकलकर वर्तमान-काल का उदय हो रहा है, उसी तक अपनी दृष्टि को परिमित रक्खा जाय, तो मानना पड़ता है कि स्त्रियों की वर्तमान स्थिति दासता के बंधनों के शिथिल होने से ही उत्पन्न हो रही है। पहले स्त्री को स्वतंत्र नहीं समझा जाता था, उसे पुरुष की संपत्ति समझा जाता था, पुरुष उसका जो-कुछ चाहता था, करता था। पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी स्त्रियों से शादी करना चाहता था, कर सकता था। जब उसकी इच्छा होती, वह स्त्री को तलाक़ दे सकता था, उसे छोड़ सकता था। ये बातें अब तक हमारे समाज में पाई जाती हैं। अनेक जंगली जातियों में स्त्रियों को चुरा लेने की प्रथा मौजूद है। स्त्रियों को भगाने के दृष्टान्त आज-दिन भी सुनने में आते हैं। पति के मरने के बाद विधवा को नज़दीकी रिश्तेदारों के सुपुर्द कर दिया जाता था, कभी-कभी उसे पति के

शव के साथ जला दिया जाता था। स्त्री के साथ यह व्यवहार ऐसा ही था, जैसा गाय-भैंस के साथ होता है। गाय-भैंस की स्वतंत्र स्थिति नहीं, इसी प्रकार स्त्री की भी स्वतंत्र स्थिति नहीं थी। अपनी संपत्ति को जिस प्रकार प्रयत्न से सुरक्षित रक्खा जाता है, लुका-छिपाकर रक्खा जाता है, उसी प्रकार स्त्री को भी छिपाकर रखने का प्रयत्न होता था, उसे सब-किसी की आँखों से बचाने की कोशिश होती थी। स्त्री की दासता का यही भाव पर्दे के रूप में हमारे समाज में अब तक बना हुआ है। जैसे स्त्रियों के ज़ेवर स्त्री की दासता की निशानियाँ रह गई हैं, वैसे ही अनेक स्त्रियों से शादी कर लेना, मर्ज़ी से जब इच्छा हुई स्त्री को तलाक़ दे देना, लड़की का पिता की संपत्ति में कोई अधिकार न होना, पर्दे की प्रथा——ये सब स्त्री की दासता की निशानियाँ रह गई हैं, जिनके विरुद्ध अब मानव-समाज में विद्रोह उत्पन्न हो रहा है, जिन्हें कम-से-कम स्त्रियाँ तो अब एक क्षण के लिए भी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं हैं।

स्त्री को दासी समझने के भाव बहुत देर से चले आ रहे हैं। उसे पुरुष से बहुत नीचा समझा जाता रहा है। चीन के प्रसिद्ध धर्म-प्रचारक कन्फ्यूशस का कथन था कि स्त्रियों का उचित स्थान घर है, उनका उसे बाहर जाने का कोई काम नहीं। वह कहता था कि स्त्रियों से बहुत अधिक परिचय नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे वे बेइज्ज़ती करने लगती हैं। बौद्ध-साहित्य में भी स्त्रियों की स्थिति बहुत नीची दिखाई पड़ती है। महात्मा बुद्ध ने आनन्द के बहुत कहने पर जब स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने का अधिकार दे दिया, तब साथ ही यह भी कह दिया कि स्त्रियों का संघ में आना ऐसा ही है, जैसे संघ में चोर आ घुसें, अब संघ देर तक नहीं चलेगा। अगर पहले संघ हज़ार वर्ष तक स्थिर रहता, तो

अब पाँच सौ वर्ष तक ही स्थिर रहेगा। स्मृति-ग्रन्थों में भी स्त्रियों के संबंध में यही दासता के विचार पाए जाते हैं। पति चाहे, तो बाँस की छड़ी से अपनी स्त्री को मार सकता है, और स्मृति इस बात की इजाज़त देती है। पारसियों के धर्म-ग्रन्थ में लिखा है कि स्त्री को प्रातःकाल उठते ही नौ बार अपने पति से पूछना चाहिए कि "मैं क्या करूँ?" मुसलमानों के यहाँ चार स्त्रियों तक शादी करने का विधान है। पुरुष के मुक़ाबले में स्त्री की शहादत आधी मानी जाती है, और दो स्त्रियों की शहादत एक पुरुष की शहादत के बराबर समझी जाती है। यहूदी लोग बहु-विवाह की प्रथा से मुक्त नहीं हैं। उनकी धर्म-पुस्तकों में शत्रुओं की स्त्रियों को लूट लाने का आदेश दिया गया है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में स्त्रियों को पुरुषों में बाँट देने का काम राज्य के सुपुर्द किया है। ईसाइयत ने यहूदियों के 'स्त्रियों की स्थिति'-संबंधी विचारों में पर्याप्त परिष्कार किया, बहु-विवाह की प्रथा को उसने उड़ा दिया, परन्तु ईसाइयत भी स्त्री को दासता की स्थिति से सर्वथा मुक्त न कर सकी। ईसाइयत के अनुसार पुरुष में तो आत्मा था, परन्तु स्त्री में आत्मा न था। ईसाइयत का कथन है कि पुरुष का अधिकार शासन करना और स्त्री का कर्तव्य शासित होना है। सेंट पॉल का स्त्रियों के संबंध में यही विचार था। १९१४ के महायुद्ध से पहले तक किसी स्त्री को ईसाई-धर्म में पादरी बनने का अधिकार न था। स्त्रियों को घृणा की दृष्टि से देखने में ईसाइयत और शंकराचार्य की शिक्षाओं में समानता ही पाई जाती है। स्त्रियों के संबंध में घृणा के ये विचार सिद्ध करते हैं कि स्त्रियों की स्थिति किसी समय इतनी नीची थी कि आजकलके स्वतंत्रता के विचारों में वर्तमान स्त्री ऐसे अनुभव करती है, जैसे

किसी घुटे हुए वातावरण में से खुली हवा में आ गई हो, जैसे जेल से छूटकर वह आज़ाद हो गई हो।

स्त्रियों को सदियों तक दासता की ज़ंजीरों में कसकर रक्खा गया है, पर्दे की प्रथा उसी दासता का एक मूर्तिमान अवशेष है। पर्दे का अर्थ यह है कि पुरुष स्त्री को अपनी चीज़ समझकर उसे दूसरों की नज़रों से बचाना चाहता है, वह स्त्री पर विश्वास नहीं कर सकता। किसी स्त्री के लिए इससे गर्हित स्थिति क्या हो सकती है कि उसका पति उस पर विश्वास न कर सके, और उसे एक कृत्रिम उपाय से अपने अधीन रखने का प्रयत्न करे। स्त्री को इस प्रकार पर्दे में रखना उसे दासता की शृंखला में बाँध रखने की चरम सीमा है, परन्तु क्योंकि हमारा समाज अभी तक स्त्री के विषय में दासता के भावों में ही सोचता है, इसलिए इस अवस्था को सहन किया जा रहा है। जब भी हमारा समाज स्त्री के प्रति दासता के भावों में सोचना बन्द कर देगा, उसी समय पर्दे की प्रथा दूर हो जायगी; और यही प्रथा नहीं, इसके साथ-साथ बहु-विवाह आदि अनेक कुप्रथाएँ जिनका स्त्री-जगत् अब तक शिकार होता रहा है, एक-साथ लुप्त हो जाँयगी और हमें कानून का सहारा न लेना पड़ेगा।

कुछ समय से स्त्रियाँ अपने अधिकारों को समझने लगी हैं। वे अब दासता की बेड़ियों में बँधे रहना नहीं सहन कर सकतीं। पाश्चात्य देशों में तो स्त्रियों के अधिकारों के लिए एक प्रबल आन्दोलन हुआ, जिसे सफ़रेजिस्ट मूवमेंट (Suffragist Movement) के नाम से कहा जाता है। यह आन्दोलन सबसे पहले इंगलैण्ड में १७९२ में मेरी वोल्स्टन क्रैफ्ट (Mary Wollstonecraft) ने अपनी पुस्तक 'Vindication of the Rights of Women' लिखकर

प्रारंभ किया। इसके लगभग ५० साल बाद जेम्स स्टुअर्ट मिल ने 'Subjection of Women'-नामक पुस्तक लिखकर स्त्रियों के अधिकारों पर अपने विचार ज़ोरदार भाषा में प्रकट किए, और इस आन्दोलन को दार्शनिक सहारा दे दिया। इस समय पश्चिम की बहनें बहुत अंश तक अपने अधिकारों की लड़ाई को सफलता तक ले गई हैं। उन्हें नागरिकता के अधिकार मिल गए हैं, और वे अपनी वोट के अधिकार का इस्तेमाल कर सकती हैं। पश्चिम की स्त्रियों ने दासता की ज़ंजीरों को काट दिया है, और वे स्वतंत्र हो गई हैं। टर्की और अफ़गानिस्तान-जैसे देशों में स्त्रियों ने बुर्क़े उतार फेंके हैं, और वे अपने अधिकारों की चर्चा करने लगी हैं। पर्दा तो स्त्री की दासता का केवल एक उपलक्षण है। पर्दा हट जाय, और स्त्री को उसी प्रकार गुलामी के वायुमण्डल में रक्खा जाय, जिसमें वह अब तक रहती आई है, तो पर्दे का हटना-न-हटना बराबर है। स्त्री को पर्दे में रखने का अभिप्राय ही यह है कि उसके मनुष्यता के सब अधिकार छीन लिए गए हैं और वह केवल गुलाम के रूप में मनुष्य-समाज का अंग बनी रह सकती ह। पर्दे के विरुद्ध जो आन्दोलन है, उसे इसी दृष्टि से देखना चाहिए। यह समझना कि स्त्रियाँ केवल पर्दा हटाना चाहती हैं, और अगर उन्हें सिर्फ़ पर्दा हटाने का अधिकार दे दिया जाय, तो वे संतुष्ट हो जाँयगी, चाहे फिर भले ही उन्हें उसी गुलामी में रक्खा जाय, जिसमें वे अब तक रहती आई हैं, सारे आन्दोलन की आत्मा को न समझना है। पर्दे के विरुद्ध आन्दोलन उस दासता और गुलामी के विरुद्ध आन्दोलन है, जिसमें अब तक हमारे समाज ने स्त्री को ज़बर्दस्ती बंद कर रक्खा है।

कई लोग पर्दे के प्रश्न को आसान समझते हैं। वे समझते

हैं कि मुख पर से पर्दा हटा देना मात्र पर्दे के प्रश्न को हल कर देने के लिए काफ़ी है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पर्दे का अभिप्राय यह है कि अब तक मानव-समाज में स्त्री की स्वतंत्र रूप से कोई स्थिति नहीं थी। वह पुरुष की गुलाम थी। अगर पर्दा हटेगा—जैसा कि अवस्थाएँ बतला रही हैं कि वह हटकर रहेगा—तो स्त्री की समाज में स्वतंत्र स्थिति भी बनेगी, वह पुरुष की गुलाम बनकर नहीं रहेगी। पर्दे का प्रश्न स्त्रियों की दृष्टि से इसलिए इतना महत्व रखता है, क्योंकि यह केवल मुख पर से कपड़ा उतार देने का प्रश्न नहीं है, यह सदियों की गुलामी को परे उतार फेंकने का प्रश्न है।

हमारे समाज में स्त्रियों की कोई स्थिति नहीं है, तभी तो पुरुष जितनी स्त्रियों से शादी करना चाहता था, कर बैठता था; तभी तो पुरुष मनमानी कर सकता है, और स्त्री को केवल पुरुष के मन की करनी होती है; तभी तो स्त्री को जिस पैमाने से मापा जाता है, पुरुष को उस पैमाने से नहीं मापा जाता। पर्दे के हटने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पुरुष को समाज में अपने स्वतंत्र अधिकार हैं, उसी प्रकार स्त्री को भी मानवता के अधिकार मिलने चाहिएँ, और उसे पुरुष की वासना-तृप्ति का साधन-मात्र नहीं समझना चाहिए। क्योंकि स्त्रियों के लिए पर्दे का प्रश्न इतना विस्तृत प्रश्न है, क्योंकि इस प्रश्न के हल होने का मतलब है स्त्रियों के अधिकारों का स्वीकार किया जाना, इसलिए स्त्रियाँ इस प्रश्न को जितना गौरव देती हैं, शायद पुरुष इसे इतना गौरव नहीं दे सकते।

इसके अतिरिक्त पर्दे का प्रश्न समाज के दृष्टिकोण से भी बड़ा आवश्यक प्रश्न है। पर्दे के कारण इस समय हमारा समाज एक अधूरा समाज है। पुरुष अलग हैं, स्त्रियाँ अलग हैं।

उनमें आपस में किसी प्रकार का संबंध नहीं है। इस समय हमारे समाज की अवस्था यह है कि अपनी धर्मपत्नी, बहन, माता आदि के अतिरिक्त यदि अन्य किसी स्त्री के साथ कोई पुरुष बातचीत करे, अथवा कोई स्त्री अपने पति, भाई, पिता आदि के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के प्रति उन स्वाभाविक सामाजिक प्रेम के उत्कृष्ट तथा पवित्रतम भावों का परिचय दे, जिन्हें प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री के हृदय में स्वयं भगवान् ने अपने हाथों से रक्खा है, तो उन पर सभी तरफ़ से संदेह-ही-संदेह किया जाता है; हम इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि पुरुष तथा स्त्री, समाज के क्षेत्र में, ऐसे ही स्वतंत्र मिल-जुल सकते हैं, जैसे पुरुष पुरुषों के साथ तथा स्त्रियाँ स्त्रियों के साथ मिलती-जुलती हैं। अभी तक पुरुषों का समाज सर्वथा अलग है, और स्त्रियों का सर्वथा अलग-- दोनों का एक-दूसरे से कोई संबंध नहीं है। यदि हो सकता है, तो केवल पति-पत्नी का, एक ही माता-पिता से उत्पन्न भाई-बहन का, माता-पुत्र और पिता-पुत्री का। इस प्रकार को छोड़कर किसी दूसरे प्रकार का संबंध अनुचित होगा, नाजायज़ होगा। हमारी यह समझ में ही नहीं आ सकता कि यदि किसी पुरुष-स्त्री का पति-पत्नी का संबंध नहीं है, एक ही रुधिर का भी संबंध नहीं है, फिर वह नाजायज़ संबंध के अतिरिक्त तीसरा संबंध हो ही कौन-सा सकता है। हमारे समाज में ये विचार घर कर गए हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन्हें वेद-वाक्यवत् सत्य मानता है, और इसीलिए जहाँ स्त्री-पुरुषों में मिलना-जुलना दिखलाई देता है, उसक विरुद्ध हृदय में क्रांति-सी उत्पन्न हो जाती है। फ़रक़ इतना ही है कि कई ईमानदारी से अपने भावों को कह डालते हैं, और कई उन्हें दबाए रखते हैं। युवक-दल तो नई रोशनी से प्रभावित होकर

पुराने बंधनों को तोड़-फोड़ डालना चाहता है, परन्तु जिनके हाथ में समाज की बागडोर है, वे नौजवानों का कुछ चलने नहीं देते। वे विवाहित स्त्री-पुरुष के ही प्रातःकाल इकट्ठे सैर करने जाने को निर्लज्जता तथा उद्दण्डता की पराकाष्ठा समझते हैं, फिर वे गैर स्त्री-पुरुष के किसी प्रकार भी परस्पर संपर्क में आने को क्योंकर सह सकते हैं। उनकी सम्मति में इस प्रकार का संबंध अनौचित्य तथा उच्छृंखलता की चरम सीमा है।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे समाज की वर्तमान अवस्था उपर्युक्त विचारों की ही पुष्टि करती है। यदि किसी युवक की सामयिक सहायता पाने के कारण कोई युवति उसके प्रति कोमल शब्दों में कृतज्ञता के प्रभाव प्रकट करती है, तो वह मूर्ख उस युवति को अपने ऊपर लट्टू हुआ समझने लगता है। उसके हृदय में इससे उच्च किन्हीं मानवीय विचारों के लिए स्थान ही नहीं दिखाई देता। स्त्रियों को हमारे समाज में पुरुषों से इतनी दूर रक्खा जाता है कि वे साधारणतम मानवीय भावों को भी प्रकाशित नहीं कर सकतीं। किसी भारी मेले में रास्ता भटक गई बुढ़िया को ठीक-ठिकाने पहुँचा देने से वह तो अवश्य ज़रूरत से ज़्यादा धन्यवाद की झड़ी लगा देती है, परन्तु एक युवति उसी प्रकार की अवस्था में वैसी ही सहायता पाकर कृतज्ञता में ज़बान तक नहीं हिला सकती। यह नहीं कि उसके हृदय में वे साधारण-से कृतज्ञता के भाव उदित ही नहीं होते, जो पशुओं तक में पाए जाते हैं; नहीं, इसलिए कि कहीं उसके शब्दों का अनर्थ न कर लिया जाय। पुरुषों से स्त्रियों को बहुत दूर रक्खा जाता है, इसलिए उनका स्त्रियों की नज़दीकी का उल्टा अर्थ कर लेना स्वाभाविक है, और इसीलिए वृद्धों का स्त्री-पुरुषों को सामाजिक जीवन में अलग-अलग रखने का उद्योग भी कुछ

अंश तक उपयुक्त ही है। दैनिक पत्रों में रोज़ घटनाएँ छपती हैं। किसी लड़की ने किसी तरफ़ देख लिया। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, जिस तरफ़ भी नज़र उठी, चली गई। अचानक समीप से जाते हुए युवक पर नज़र पड़ गई। उसने समझा कि उसी पर यह ख़ास कृपा की गई है। ज्यों क़िस्सा छिड़ा कि उसका अंत अदालत में हुआ। ऐसी अवस्थाओं के होते हुए क्योंकर वृद्ध लोग स्त्री-पुरुषों को सामाजिक जीवन में स्वतंत्रता देने के पक्ष में हो सकते हैं? मुंह पर पड़ा पर्दा उठ जाय, तो उठ जाय, वे इस नई बेपर्दगी के हक़ में नहीं हो सकते।

तो फिर क्या होगा? क्या पर्दे को दूर करने का अभिप्राय मुख पर से बुर्क़ा उतार देना-मात्र होगा, अथवा इसका अभिप्राय कुछ और गहरा होगा? क्या स्त्रियाँ पर्दा हटाकर सामाजिक जीवन में पुरुषों से उतनी ही दूर खड़ी रहेंगी, जितनी दूर वे अब तक थीं अथवा उन्हें भी समाज का उसी प्रकार अंग समझा जायगा, जिस प्रकार पुरुषों को समझा जाता है? इसका उत्तर पाने के लिए इतिहास के कुछ पन्ने पलटने आवश्यक हैं।

मुसलमानों ने स्त्रियों को सामाजिक जीवन में कोई स्थान नहीं दिया। उनका समाज पुरुषों का समाज रहा। पुरुष ही उनकी समाज-रूपी मस्जिद की आधार-शिला, पुरुष ही उसकी ईंट, पुरुष ही उसकी दीवार और पुरुष ही उसके गुम्बज़ हैं। ऐसी रचना बनाकर मुसलमानों ने समाज का जो स्वरूप बना लिया है, वह किसी प्रकार स्पृहणीय नहीं है। उनके यहाँ स्त्रियाँ मर्दों की तरह आज़ाद नहीं हैं, और इसीलिए उनके समाज की रचना में स्त्रियों का हाथ नहीं है, जो कुछ है, वह नाममात्र का है। मुसलमानों के समाज का विकास हुआ, परन्तु वह विकास शरीर के फूलने की तरह का था, बढ़ने की तरह का नहीं।

मुसलमानों के समाज के विकास को मानव-जाति के शरीर में उत्पन्न हुए एक रोग से उपमा दी जा सकती है। आग और तलवार से उतरकर वे बात ही नहीं करते थे। वे कठोरता, क्रूरता और निर्दयता के अवतार दिखाई देते थे। कोमलता, सहृदयता, प्रेम आदि जिन गुणों से मनुष्य की वज्र-प्रकृति में मृदुता तथा देवत्व का संचार होता है, उनसे मुस्लिम-समाज सर्वथा वंचित रहा। यदि कहीं मुसलमानी संसार में स्त्रियाँ हवा खाने को भी निकली हैं, तब भी लिपटी हुई, ढकी हुई, चारों तरफ़ की दुनियाँ से बिलकुल अलग, इस दुनियाँ में रहती हुई भी किसी दूसरी दुनियाँ में! जहाँ समाज के एक अंग को इस प्रकार काटकर अलग फेंक दिया जाय, वहाँ पहले तो किसी प्रकार की उन्नति होगी ही नहीं, और जो होगी भी, वह अधूरी—बिलकुल आधी। सैमेटिक जातियों का संदेश गगन-व्यापी अग्नि-ज्वालाओं का संदेश है, तलवारों की खनखनाहट का संदेश है, क्योंकि उनके सामाजिक-जीवन में स्त्री का स्त्री-रूप से कोई स्थान नहीं है। उनके समाज का बनाने वाला पुरुष है, और उसने सब जगह अपनी कठोर प्रकृति का परिचय दिया है। सेमेटिक जातियों ने समाज के जिस भवन का निर्माण किया है, उसके नीचे 'आग-खून-तलवार' इनके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं दिखाई देता। जब तक स्त्रियों को सामाजिक-क्षेत्र में अपना उचित स्थान नहीं मिलेगा, जब तक उन्हें पुरुषों की तरह समाज का जीता-जागता अंग न समझा जायगा, जब तक उन्हें किसी भी प्रकार के पर्दे के पीछे रक्खा जायगा, तब तक समाज सैमेटिक जातियों के समाज की तरह, अर्धाङ्ग-रोग से पीड़ित रहेगा, उन्नतिशील नहीं हो सकेगा, मानव-जाति के दैवी गुणों से वंचित रहेगा!

सैमेटिक जातियों के विपरीत आर्य-जातियों ने स्त्री को स्त्री-रूप से पुरुष की तरह समाज का अंग मानने का प्रयत्न किया था, और इसीलिए उनमें सर्वनाश-कारी कठोरता तथा नीरसता नहीं पाई जाती। इस समय हम लोग अनेक सैमेटिक संस्कारों के कारण प्राचीन वैदिक विचारों से विमुख हो चुके हैं, परन्तु किसी समय इसी भारत में गार्गी-सी विदुषी देवियाँ सभाओं में अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमाया करती थीं। स्वयंवरों की प्रथा इसी पर्दे पर लट्टू होने वाले देश में प्रचलित थी। उस समय के भारत का संदेश शांति का, आशा का, उत्साह का संदेश है। उस उपदेश को सदियों बाद आज भी सुनकर हृदय से 'धन्य'-'धन्य' निकलने लगता है। भारत के प्राचीन समाज की रचना में स्त्रियों का उतना ही हिस्सा था, जितना पुरुषों का।

योरप की आर्य-जातियों में भी स्त्री को पुरुषों के साथ एक ही स्थिति पर लाने का प्रयत्न किया गया। लूथर ने पर्दे के पीछे ढकी स्त्री-जाति को पुरुषों के साथ एक ही मंच पर आगे ला खड़ा किया। इसमें सन्देह नहीं कि आगे चलकर स्त्री-पुरुषों के इस मिलने-जुलने से अनर्थ पैदा होने लगे, परन्तु इसका कारण यही है कि वे लोग उस मानवीय उच्चता को अनुभव ही न कर सके, जहाँ तक लूथर उन्हें पहुँचाना चाहता था। वर्तमान योरप में स्त्रियाँ समाज का अंग समझी जाती हैं, और सभ्यता को बढ़ाने में वे भी अपना हिस्सा ले रही हैं, परन्तु अभी वहाँ पर भी वे पूरा हिस्सा नहीं ले रहीं। यदि योरप की सभ्यता को विकसित करने में स्त्रियों का पूरा हिस्सा होता, तो गोरी जातियों का निर्बल जातियों को क्रूरता-पूर्ण व्यवहारों से सभ्य बनाने का भारी बोझ कभी का हलका हो चुका होता। फिर भी योरप जो

कुछ थोड़ा-बहुत कर रहा है, उसका उत्तेजन स्त्रियों द्वारा ही मिल रहा है। शक्ति के मद में अंधा हुआ वह अनक नीचता के कार्य भी कर जाता है, परन्तु ऐसे काम इसीलिए हो जाते हैं, क्योंकि स्त्रियों की योरप में भी वह स्थिति नहीं है, जो होनी चाहिए। हाँ, इसके साथ-साथ हमें यह भी मानना पड़ता है कि योरप में स्त्री-पुरुषों की अत्यधिक स्वतंत्रता से इस प्रकार के अनेक अनर्थ भी हो जाते हैं, जिन्हें रोकना कठिन हो जाता है। मनुष्य की इस गिरावट को देखकर सैमेटिक-जाति के लोग समझने लगते हैं कि समाज से स्त्री को सर्वथा निर्वासित कर देने का उनका विचार बिल्कुल ठीक है।

ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम दो परस्पर विरुद्ध विचारों पर पहुँचते हैं। हम यह भी समझते हैं कि स्त्रियों के बिना समाज अधूरा रह जाता है, उसकी उन्नति इक-तरफ़ा रहती है, उसका विकास पूरा नहीं होने पाता; इसके साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि स्त्रियों को समाज का अंग बना देने से समाज की दोनों मशीनों का पुर्ज़ा कहीं-न-कहीं से ढीला हो जाता है। इस द्विविधा में क्या किया जाय?

स्त्री-पुरुषों के खुला मिलने से कहीं-कहीं ख़राबी पैदा हो जाती है, इतना कह देने-मात्र से कुछ सिद्ध नहीं होता। ख़राबी तो वहाँ भी पैदा हो जाती है, जहाँ दोनों को रुई में लपेटकर अलग-अलग रक्खा जाता है। प्रश्न यह है कि इन दोनों अवस्थाओं में अधिक हानिकर अवस्था कौन-सी है? अनुभव यही बतलाता है कि जहाँ स्त्रियाँ पुरुषों को अजीब चीज़ नहीं समझतीं, और न पुरुष स्त्रियों को आसमान में उड़नेवाली बुलबुल समझते हैं, वहाँ का आचार दूसरे लोगों से कहीं बढ़कर होता है। मद्रास

तथा महाराष्ट्र में स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं। सिर तक नंगा रखती हैं। लड़कों के साथ स्कूल-कालेज में पढ़ती हैं। उनमें कोई ख़राबी नहीं दिखाई देती। वे समाज में उसी प्रकार हिस्सा लेती हैं, जैसे पुरुष। वहाँ की स्त्रियों में आत्मबल है। वे बाज़ार से निकलती हुई दुनियाँ-भर से बचती-बचती नहीं निकलतीं। दूसरी गली के घर में जाते समय उनकी हिफ़ाज़त के लिए दो सिपाही तैनात नहीं करने पड़ते। वे ऐसी निर्भय होकर घूमती-फिरती हैं, साँस लेती हैं, जैसे पुरुष। आफ्रिका में हब्शी लोग नंगे फिरते हैं। इस अवस्था में भी स्त्री-पुरुष अपने दैनिक कार्य करते हैं। उन लोगों को देखकर संदेह हो जाता है कि क्या नंगेपन तथा दुराचार में कोई संबंध है भी या नहीं। यदि होता, तो क्या आफ्रिका के नंगधड़ंग हब्शी कोट-पतलून पहननेवालों के साथ सदाचार की तुलना में रक्खे जा सकते थे? परन्तु फिर भी सभ्यता की डींग हाँकनेवालों को आफ्रिका के जंगली लोगों की बातें सुनकर लज्जा से सिर नीचा कर लेना पड़ता है। हब्शी लोग नंगे रहते हुए भी पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहते हैं। यदि समाज में स्त्री-पुरुषों के परस्पर मिलने-जुलने का परिणाम अनुचित ही हो, तो सबसे बड़े बदमाश हब्शी लोग होने चाहिएँ; परन्तु है ठीक इससे उल्टा! योरप के लोगों में आचार के नियम ज़रा शिथिल प्रतीत होते हैं, इसका कारण स्त्री-पुरुषों का स्वतंत्र-रूप से मिलना नहीं, बल्कि वहाँ का प्रकृतिवाद है। जीवन के विषय में उनकी दृष्टि ही ऐसे ढीले उसूलों से बनी है कि वे आचार-संबंधी बातों को वह महत्व नहीं देते, जो हम देते हैं। यह दृष्टिकोण बदल जाय, तो स्त्री-पुरुषों में मिलना-जुलना होते हुए भी हमें उनके आचार में कोई गिरावट न दिखाई दे।

इस समय समाज में एक नवीन भाव के जागृत करने की आवश्यकता है। स्त्रियों को हम जिस प्रकार समाज से निर्वासित किए हुए हैं, पर्दे के पीछे ढके हुए हैं, उससे हमारा समाज पुरुषों का ही समाज कहला सकता है, अधूरा ही रह सकता है, उसमें पूर्णता नहीं आ सकती। इस अवस्था को दूर किया जाना ज़रूरी है। कपड़े का पर्दा हटा देने-मात्र से पर्दा नहीं हटेगा, पर्दे को हटाने के लिए समाज में स्त्रियों की स्थिति को ही मूल से बदलना होगा। हमें नवयुवकों तथा नवयुवतियों के स्त्री-पुरुष-संबंधी विचारों को सर्वथा परिवर्तित कर देना होगा। दोनों अपने को गौरव के साथ समाज का समान रूप से अंग समझने लगें, और परस्पर इस प्रकार व्यवहार करने लगें, जिस प्रकार पुरुष पुरुषों के साथ और स्त्रियाँ स्त्रियों के साथ करती हैं, तब जाकर समाज का सम-विकास होना प्रारंभ होगा। इसमें संदेह नहीं कि हमारा समाज इतना गिरा हुआ है कि ऐसे विचारों को गंदे नाम देकर उन पर गालियों की बौछार करना प्रारंभ करेगा, परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि मानव-प्रकृति के इस उच्च शिखर पर पहुँचकर ही मनुष्य-समाज का कुछ भला हो सकेगा। यह बात पत्थर की लकीर की तरह अमिट समझनी चाहिए कि जब तक समाज से स्त्रियों को निर्वासित किया जायगा, जब तक पुरुषों की तरह उनके व्यक्तित्व को भी पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया जायगा, तब तक हमारा समाज अधूरा ही नहीं, प्रत्युत् आचार-भ्रष्टता की दलदल में भी धँसा रहेगा, और उसमें से निकलने का प्रत्येक झटका उसे दो अंगुल और भीतर ढकेल देगा। मैं तो उत्सुकता-पूर्ण नेत्रों से अपने समाज के उन दिनों की प्रतीक्षा कर रही हूँ, जब इस समाज की देवियाँ पुरुषों के साथ समानता की वेदी पर आकर मिलेंगी, और उनके परस्पर के संबंध

कुवासनाओं की दुर्गन्ध से अम्लान होते हुए एक-दूसरे की उन्नति में सहायक सिद्ध होने लगेंगे। जिस दिन यह दृश्य दिखाई देगा, उस दिन किसी स्त्री को पर्दे से मुंह ढाँपने की ज़रूरत न रहेगी, क्योंकि तब संसार-भर की अपने से बड़ी आयु की स्त्रियों को सब लोग माता की दृष्टि से देखेंगे, और अपने बराबर की स्त्रियों को बहन की दृष्टि से। ऐसी अवस्था में लड़के-लड़कियों के इकट्ठे पढ़ने पर और स्त्रियों के पर्दा हटा देने पर कुढ़ने की ज़रूरत न रहेगी, क्योंकि तब जिससे डरकर हम पुरुषों तथा स्त्रियों को अलग-अलग रखना चाहते हैं, वह बात ही न रहेगी, पुरुष तथा स्त्रियाँ खुले तौर से समाज में हिस्सा लेंगे, परस्पर मिलेंगे, परन्तु ऐसे ही, जैसे पुरुष पुरुषों से मिलते हैं, और स्त्रियाँ स्त्रियों से।

पर्दे के प्रश्न को हमें इन्हीं दो दृष्टियों से देखना चाहिए। एक दृष्टि स्त्री की दृष्टि है, जिसमें पर्दे का हटना स्त्री की सदियों की गुलामी का हटना है। स्त्रियाँ इसी दृष्टि से इसी प्रश्न को महत्व देती हैं। पर्दे के हटने का मतलब उनके लिए यह है कि उनके मानवता के अधिकारों को स्वीकार कर लिया जाय, उन्हें भी पुरुषों के ही पैमाने से मापा जाय। यह समझ लिया जाय कि अगर पुरुष अपनी स्त्री को सती-साध्वी देखना चाहता है, तो स्त्री भी चाहती है कि पुरुष सदाचारी रहे, अगर पुरुष स्त्री से कुछ आदर्शों के पालन की आशा रखता है, तो स्त्री भी पुरुष से उन आदर्शों के पालने में वैसी ही आशा रखती है। पर्दे के प्रश्न को हल करने में दूसरी दृष्टि समाज की दृष्टि है। अगर समाज में पुरुष अलग रहेंगे, और स्त्रियाँ अलग रहेंगी, तो समाज का विकास अधूरा विकास होगा, और क्योंकि स्त्रियाँ पर्दे में ही बंद रहेंगी, इसलिए समाज का विकास केवल पुरुषों

के दृष्टिकोण का ही विकास होगा। सृष्टि की रचना में जहाँ कठोरता की ज़रूरत है, वहाँ कोमलता की भी कम ज़रूरत नहीं है। यह काम तभी हो सकता है, जब समाज से स्त्री को वैसे निर्वासित न किया जाय, जैसे इस समय उसे किया जाता है। पर्दे का हटाना जहाँ स्त्री की गुलामी को दूर करने के लिए ज़रूरी है, वहाँ समाज के सर्वाङ्गीण विकास के लिए भी उतना ही ज़रूरी है।

८

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र सदियों से घर समझा जाता रहा है। घर से बाहर की दुनियाँ के साथ भी उनका संबंध हो सकता है, इस पर मानव-समाज ने बहुत देर तक विचार ही नहीं किया। विवाह करना, पति की आज्ञा पालना, संतानोत्पत्ति--यही उनके जीवन का आदि और अन्त रहा है। इतने काम के लिए शिक्षा की क्या आवश्यकता है ? अगर उन्हें थोड़ा-बहुत पढ़ना भी हो, तो उतना ही काफ़ी है, जितना पति के जी- बहलाव के लिए पर्याप्त हो। उन्हें चिट्ठी लिखना भर आना चाहिए, सीने-पिरोने और रसोई बनाने में उन्हें दक्ष होना चाहिए, इससे आगे स्त्री-शिक्षा निरर्थक हो जाती है। इसी आदर्श को सामने रख-कर कभी ग्रीक लोग भी स्त्रियों को साधारण-सी लिखने-पढ़ने तक की ही शिक्षा दे दिया करते थे, उससे अधिक नहीं। रोम में यद्यपि स्त्रियों की स्थिति ग्रीस की अपेक्षा ऊँची थी, तो भी उनका स्त्री-शिक्षा का आदर्श संकुचित ही था। योरप में १८वीं शताब्दी तक स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर की देख-भाल करना, बच्चों की परवरिश करना और चर्खा चलाना रहा। जब स्त्री ने इस क्षेत्र से बाहर क़दम ही नहीं रक्खा, तब उसकी शिक्षा का प्रश्न ही कैसे उठ सकता था ? इसलिए बहुत देर तक योरप में लड़कों की शिक्षा के उन्नत रूप में आ जाने पर भी स्त्रियों की शिक्षा का प्रश्न उठा ही नहीं, उस पर किसी ने

विचार तक करने का कष्ट नहीं किया। भारतवर्ष में वैदिक-युग में तो स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची थी, उस समय स्त्रियों की शिक्षा भी ऊँचे पाये तक पहुँच चुकी थी, परन्तु मध्य-युग में यहाँ भी स्त्री को घर में ही बन्द कर दिया गया, और उसकी शिक्षा के प्रश्न को ख़तम कर दिया गया। योरप ने इस प्रश्न को बहुत-कुछ हल कर लिया है, परन्तु भारतवर्ष में यह प्रश्न अब हाल में ही कुछ-कुछ हल होने लगा है।

स्त्रियों को घर में ही बंद रखना, उन्हें बाहर न आने देना, उन्हें गेलामी में रखने की निशानी है। हमारे समाज से ग़ुलामी की प्रथा वैसे तो लुप्त हो गई है, गुलामों का ख़रीदना और बेचना हट गया है, परन्तु उस गुलामी से एक गहरी ग़ुलामी अब तक मौजूद है, जिसे हम अभी तक नहीं हटा पाए। प्रत्येक विवाहित पुरुष के घर में उसकी स्त्री एक ऐसी गुलाम है, जो हर समय उसका कहना मानने को वैसे ही तैयार है, नहीं, वैसे ही बाधित है, जैसे गुलाम हुआ करते थे। स्त्री की इच्छा हो, या न हो, उसे अपने पति की हर-एक इच्छा के सामने सिर झुकाना होगा; वह निरा नर-पिशाच ही क्यों न हो, उसे देवता समझकर पूजना होगा, और जीवन-पर्यन्त उसके पाँवों की धूलि अपने मस्तक पर चढ़ानी होगी। क्या गुलामी की हद इससे भी परे जा सकती है? गुलामों की तरह स्त्री को हमारे समाज में बेचा जाता रहा है; कई गुलाम रखने की तरह कई स्त्रियों से शादी की जाती रही है। लोग कहते हैं, गुलामों की प्रथा दूर हो गई, परन्तु हमारे समाज में स्त्री की जो स्थिति है, वह जब तक वैसी ही बनी रहेगी, तब तक कौन क़ह सकता है कि हमने गुलामी की प्रथा को दूर कर दिया है। अधिकाँश पुरुष-समाज स्त्री को अपना गुलाम रखने के भाव से उसे घर

में क़ैद किए हुए हैं, उसके कार्य-क्षेत्र को इतना सीमित बनाए हुए हैं कि उसकी समझ में ही नहीं आता कि घर से बाहर स्त्री क्या कर सकती है ?

स्त्री को सदियों से गुलामी की हालत में रखकर पुरुष ने उसकी जो दशा कर दी है, कहा जाता है कि स्त्री की यह स्वाभाविक दशा है। स्त्री का स्वभाव ही ऐसा है कि वह घर से बाहर अपना कार्य-क्षेत्र बनाना पसंद ही नहीं कर सकती। वह स्वभाव से किसी-न-किसी पुरुष का आश्रय ढूँढ़ती है, स्वभाव से किसी-न-किसी पुरुष का गुलाम बनना चाहती है। अगर उसे इस बंधन से, इस गुलामी से मुक्त कर दिया जाय, अगर उसे सोलह वर्ष की आयु के बाद अवश्य ही विवाह-बन्धन में बाँधने के बजाय अपनी मर्ज़ी से जैसा वह करना चाहे, आज़ादी से करने दिया जाय, तो वह फिर भी इस बंधन को अपने ऊपर ले लेगी, और इस गुलामी से भागने के बजाय इसमें स्वयं आ फँसेगी। परन्तु विवाह-बन्धन में फँसना और गुलामी को स्वीकार कर लेना दोनों बातें एक नहीं हैं। विवाह-बन्धन में तो पुरुष भी फँसता है, परन्तु वह इसमें फँसकर गुलाम नहीं बन जाता। स्त्री के विषय में यह समझा जाता है कि विवाह करने पर वह पुरुष पर इतनी आश्रिता हो जाय कि उसकी गुलाम होकर ही रह सके, वैसे रह ही न सके। हमारे समाज में या तो स्त्री की शिक्षा होती ही नहीं, या होती है, तो इस ढंग की कि वह पति का सहारा लेकर ही जीवन निर्वाह कर सकती है, उसके बिना उसके पास जीवन-निर्वाह का कोई उपाय ही नहीं होता। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी आजीविका का साधन केवल विवाह कर लेना समझती है, और विवाह कर लेने के बाद उसे अपनी प्रत्येक इच्छा पतिदेव की इच्छा-वेदी पर बलि-रूप से चढ़ा देनी

पड़ती है, क्योंकि उसके बिना फिर उसकी आजीविका का प्रश्न वैसे-का-वैसा भयंकर रूप धारण कर लेता है। स्त्री का स्वभाव पुरुष की गुलामी करना नहीं है, परन्तु क्योंकि उसे संसार-क्षेत्र में कृतकार्यता-पूर्वक जीवन-निर्वाह करने की कोई शिक्षा ही नहीं दी जाती, इसलिए बाधित होकर उसे गुलामी में जीवन बिताने को ही अपना लक्ष्य बनाना पड़ता है। अगर स्त्रियाँ आजीविका के लिए पति पर इतनी आश्रिता न हों, जितनी आज वे बना दी गई हैं, तो स्त्री की गुलामी के कारण विवाह-संबंध में जो गिरावट आ गई है, वह दूर हो जाय, और विवाह का बंधन स्वामी तथा सेविका का संबंध न होकर यथार्थ में पति-पत्नी का संबंध हो जाय। यह समझना भूल है कि स्त्रियाँ स्वभाव से गुलाम बनना चाहती हैं। उनके हृदय में प्रेम है, उच्च-से-उच्च शिक्षा पाकर भी वे विवाह ज़रूर करेंगी, परंतु ठीक ऐसे, जैसे पुरुष ऊँची-से-ऊँची शिक्षा पाकर भी विवाह अवश्य करते हैं। विवाह का आधार प्रेम है, निस्सहाय अवस्था नहीं। आजकल स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र के अत्यंत संकुचित हो जाने के कारण स्त्री के लिए विवाह का आधार उसकी निस्सहाय अवस्था हो गया है, प्रेम नहीं रहा। यही स्त्री की गुलामी का कारण बन रहा है। हिन्दू-समाज में लाखों ऐसे घर हैं, जिनमें स्त्रियाँ दिन-रात पिटती हैं, परन्तु उन्हें पति की गुलामी करनी ही पड़ती है; लाखों ऐसे घर हैं, जिनमें सती-साध्वी देवियों को शराबी और दुराचारी पति को देवता मानकर पूजना पड़ता है, और वे बेवसी के कारण गुलामी की बेड़ियों को नहीं तोड़ सकतीं! स्त्री-जाति के इस दुर्भाग्य और उसकी इस गुलामी का एकमात्र कारण यह है कि हमने स्त्री को आजीविका की दृष्टि से सर्वथा पुरुष के आश्रय में छोड़ दिया है, उसके सहारे के

बिना वह समुद्र की लहरों में बह रहे तिनके के समान हो जाती है। यह कहना कि स्त्री अपनी इच्छा से इस गुलामी को स्वीकार करती है, स्त्री के दृष्टिकोण को न समझना है; और यह कहना कि स्त्री का स्वभाव ही पुरुष की गुलामी करना है--चाहे वह पुरुष कसा ही क्यों न हो--स्त्री के स्वभाव के साथ अन्याय करना है।

'स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर है, बाहर नहीं है; और घर में उसका स्वभाव पुरुष की गुलामी करना है'--ये विचार हमारे समाज में जड़ पकड़ चुके हैं, और इन्हीं दृष्टियों से हम लोग स्त्री-शिक्षा के प्रश्न पर विचार करते हैं। लोग यहाँ तक कहने लगे हैं कि जहाँ स्त्री का स्वभाव घर में ही बंद रहकर पुरुष की गुलामी करने का है, वहाँ वह घर से बाहर के कार्य के लिए शारीरिक तथा मानसिक दृष्टियों से अयोग्य भी है।

शारीरिक-दृष्टि से कहा जाता है कि पुरुष तथा स्त्री के शरीर की बनावट में इतना भारी भेद है कि स्त्री के लिये घर को ही अपने कार्य का क्षेत्र चुनना उचित जान पड़ता है। कुछ अंश तक यह बात ठीक है कि स्त्री तथा पुरुष की रचना में भेद है, परन्तु यह भेद ऐसा नहीं है, जिससे स्त्री को एक क्षेत्र से सर्वथा निर्वासित ही कर दिया जाय। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कई स्त्रियों ने, जिन्हें मौक़ा मिला, घर के बाहर के कर्तव्यों को बड़ी सफलतापूर्वक निभाया। महारानी ताराबाई तथा महारानी दुर्गावती ने जिस सफलता से एक बड़े भारी राज्य का संचालन किया, उसमें उनकी पुरुषों से शारीरिक भिन्नता क्यों बाधक नहीं हुई? असल में उच्च राज-घरानों में स्त्रियों को उस प्रकार बहिष्कृत करके नहीं रक्खा जाता, जिस प्रकार दूसरे लोग स्त्रियों को एक तुच्छ जीव समझकर समाज से

पृथक् रखते हैं। यही कारण है कि ऊँचे घरानों में पुरुषों तथा स्त्रियों की शक्तियों में अधिक भेद नहीं देखा जाता। इसी का परिणाम है कि राज-घरानों में महारानी ताराबाई तथा दुर्गावती-जैसी राजनीतिज्ञ स्त्रियाँ भी हो जाती हैं। अगर ये दोनों रानियाँ किसी साधारण घराने में जन्म लेतीं, तो वे अपनी उन शक्तियों को न दिखला सकतीं, जिन्हें वे रानी होते हुए दिखा सकीं। यह नहीं कहा जा सकता कि जहाँ किसी काम के लिए पुरुषों की शारीरिक शक्ति कम-से-कम हो जाती है, वहाँ से स्त्रियों की अधिक-से-अधिक शक्ति का प्रारंभ होता है। कई काम ऐसे हैं, जिनमें पुरुषों की अपेक्षा कई स्त्रियाँ, अभ्यास के बल पर, आगे निकल जाती हैं। यह कहना कि पुरुषों तथा स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र सर्वथा अलग-अलग है, जिस काम को पुरुष कर सकते हैं, उसे स्त्रियाँ कर ही नहीं सकतीं, उनकी शारीरिक-रचना ही इस प्रकार की नहीं होती कि वे उस कार्य को कर सकें, एक निराधार कल्पना है। स्त्रियों को 'अबला' कहा जाता है, परन्तु कई स्त्रियाँ पुरुषों को पछाड़ सकती हैं। शरीर-रचना-शास्त्र (Anatomy) के आधार पर म्यूनिक के रुडिंगर महोदय का कथन है कि पैदायश के समय लड़कों का मस्तिष्क लड़कियों के मस्तिष्क से लम्बाई, चौड़ाई, गहराई तीनों में बड़ा होता है। ऐसे कथनों के आधार पर कई लोगों का कहना है कि मस्तिष्क-संबंधी इस शारीरिक भेद के कारण भी स्त्री तथा पुरुष की ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता में समानता नहीं है। पुरुष कठिन विषयों का अध्ययन कर सकता है, स्त्री रोचक विषयों में ही दिल लगा सकती है, और उसी के आधार पर उनके कार्य-क्षेत्रों का अलग-अलग होना आवश्यक है। इस युक्ति का उत्तर देते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल

महोदय ने कहा है कि तब तो लंबे-चौड़े स्थूल-काय व्यक्ति में दुबले-पतले आदमी की अपेक्षा अधिक चमत्कारिका बुद्धि होनी चाहिए; हाथी को बुद्धि में मनुष्य से कहीं आगे बढ़ा होना चाहिए। मिल महोदय का कहना है कि मस्तिष्कों को मापने और तोलनेवाले एक शारीर-शास्त्रज्ञ ने उन्हें बतलाया कि अब-तक सबसे अधिक भारी मस्तिष्क उसने एक स्त्री का ही पाया था। कर्वीयर का मस्तिष्क सबसे अधिक भारी समझा गया था, परन्तु मिल महोदय के मित्र ने एक स्त्री का मस्तिष्क कर्वीयर के मस्तिष्क से भी अधिक भारी पाया। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क का भारी होना मात्र उसकी अपेक्षाकृत अधिक शक्ति का परिचायक नहीं हो सकता। 'भार' (Quantity) के अतिरिक्त 'गुण' (Quality) भी किसी वस्तु की उत्कृष्टता का पता लगाने में आवश्यक अंग है। अगर सूक्ष्मता, सौन्दर्य आदि गुणों की दृष्टि से स्त्री के मस्तिष्क को परखा जाय, तो उसका पुरुष के मस्तिष्क से बहुत ऊँचा स्थान है। कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि स्त्री तथा पुरुष के शरीर एवं मस्तिष्क के रचना-संबंधी भेदों के आधार पर उनके कार्य-क्षेत्र को अलग-अलग कर देना—और स्त्री को चौके-बर्तन की तथा पुरुष को विज्ञान की शिक्षा देना प्रारंभ कर देना—काल्पनिक भेदों पर आश्रित है।

स्त्री को घर में गुलाम बनाए रखने के लिए जिस प्रकार स्त्री तथा पुरुष के शारीरिक भेद पर ज़ोर दिया जाता रहा है, उसी प्रकार दोनों के मानसिक विकास की भिन्नता को भी युक्ति के रूप से पेश किया जाता रहा है। कहनेवाले कहते रहे हैं कि स्त्री मानसिक-विकास में पुरुष से बहुत पिछड़ी हुई है। पढ़ने-लिखन का क्षेत्र पुरुष के समान खुल जाने पर भी अब तक स्त्रियों में कोई बड़ी दर्शन-विज्ञ, कोई बड़ी इतिहासज्ञ, कोई

बड़ी विज्ञान-प्रवीण नहीं हुई। परन्तु स्त्रियों का पुरुष से मानसिक-विकास में पिछड़ा होना कुछ सिद्ध नहीं करता। सिद्ध तो यह करना चाहिए कि प्रयत्न करने पर भी कोई स्त्री किसी पुरुष से मानसिक-विकास के क्षेत्र में आगे नहीं निकल सकती; पुरुष के मानसिक-विकास में जो कम-से-कम मात्रा पाई जाती है, वह स्त्री के मानसिक-विकास की अधिक-से-अधिक मात्रा है। ऐसा सिद्ध होने से ही स्त्री को शिक्षा के उस क्षेत्र से निर्वासित किया जा सकता है, जिस पर अब तक पुरुष का एकाधिपत्य रहा है। मूर्ख-से-मूर्ख पुरुष के लिए जब शिक्षा का प्रत्यक क्षेत्र खुला हुआ है, तब उस क्षेत्र को स्त्री-जाति मात्र के प्रति बंद कर देने के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि किसी स्त्री का मानसिक-विकास उस मूर्ख पुरुष से भी ऊंचा नहीं हो सकता, नहीं तो इसका क्या अभिप्राय ह कि अयोग्य पुरुषों के लिए एक क्षेत्र पूरी तौर से खुला रहा, और योग्य स्त्रियों के लिए भी वह सदियों तक बन्द रहा? अस्ल में मानसिक-योग्यता की धारा इस प्रकार नहीं बहती कि पहले पुरुषों में बहे, और जब पुरुषों में वह अपना ज़ोर खत्म कर चुके, तब धीमे तौर से स्त्रियों में बहने लगे। कई पुरुषों से स्त्रियाँ अधिक योग्य होती हैं, और कई स्त्रियों से पुरुष अधिक योग्य होते हैं। अब तक मानसिक-योग्यता के क्षेत्र में ऊँचा-से-ऊँचा स्थान अधिकतर पुरुषों ने ही प्राप्त किया है, इसका कारण स्त्रियों को मौक़ा न मिलना रहा है। योरप में भी, जहाँ स्त्री-शिक्षा इतने ऊँचे दर्जे पर पहुँच गई है, स्त्री-शिक्षा को प्रारंभ हुए कितना समय हुआ है? अठारहवीं शताब्दी तक तो वहाँ भी स्त्रियाँ चौके-चूल्हे में ही लगी थीं। दो शताब्दियों की शिक्षा में अगर स्त्री-जाति ने शिक्षा के क्षेत्र में इतनी उन्नति कर

ली है, तो उसकी मानसिक-योग्यता में तो कम-से-कम किसी को संदेह नहीं रह जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस समय तक मानव ने इतनी अधिक मानसिक-उन्नति कर ली है कि ऐसे समय में कोई नई बात निकाल देना लगभग असंभव-सा हो गया है। महाशय मौरिस का कथन था कि इस युग के सबसे अधिक मौलिक विचारक वे हैं, जो अपने पहले के सब विचारकों को खूब अच्छी तरह समझे हुए हैं, और उन्हीं के विचारों को एक नए ढंग से कह सकते हैं। पहले मानव-जाति के मानसिक-विकास की इमारत पर पत्थर रख सकना आसान था—क्योंकि उस समय यह इमारत अभी प्रारंभ ही हुई थी। परंतु उस समय इस इमारत में किसी प्रकार का हिस्सा लेना स्त्री-जाति के लिए मना था। आज यह इमारत इतनी ऊँची हो गई है कि इसमें एक ज़रा-सी भी ईंट लगाने के लिए बहुत ऊँचाई पर चढ़ना पड़ता है। अगर ऐसे समय में स्त्रियाँ पुरुषों से आगे नहीं निकल सकीं, पुरुषों का मुक़ाबिला ही कर रही हैं, तो भी यह उनके लिए गौरव की बात है, और इससे उनमें पुरुषों की अपेक्षा मानसिक-योग्यता की न्यूनता किसी प्रकार नहीं सिद्ध होती।

अगर शारीरिक तथा मानसिक दृष्टियों से पुरुष तथा स्त्री में ऐसा भेद नहीं है कि स्त्री को केवल घर में क़ैद कर दिया जाय, उसे आजीवन पुरुष पर निर्भर रहकर ही जीवन बिताने लायक़ बना दिया जाय, उसे गुलामी के सिवा और किसी स्वतंत्र आजीविका के लिए अयोग्य बना दिया जाय, तब प्रश्न होता है कि क्या पुरुष तथा स्त्री को समान ही शिक्षा दी जाय, उन दोनों की शिक्षा में कुछ भेद न रक्खा जाय, या पुरुष तथा स्त्री की शिक्षा में कोई मौलिक-भेद रहे?

इस समय यह समझा जाता है कि स्त्री पैदा ही विवाह करने के लिए हुई है, यही उसके जीवन का लक्ष्य है, यही उसकी आजीविका का साधन है। इस विचार को आधार बनाकर स्त्री-शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया जाता है। जब विवाह करना ही स्त्री के लिए आजीविका का साधन है, तब कई लोग तो स्त्री-शिक्षा की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। कई कहते हैं कि इतनी शिक्षा अवश्य दे देनी चाहिए, जिससे वह गृहस्थी का कार्य भली भाँति चला सके, चिट्ठी-पत्री लिख सके, इससे ज़्यादा शिक्षा की आवश्यकता नहीं। मैं भी इस बात को स्वीकार करती हूँ कि स्त्री के लिए घर में रहकर उसकी व्यवस्था करना, बाल-बच्चों की देख-रेख करना बड़ा अनुकूल तथा सुख-प्रद कार्य है। पुरुष तथा स्त्री के लिए तो यह श्रम-विभाग का कार्य होना चाहिए। पुरुष बाहर से कमाकर लाता है, स्त्री उसका मित-व्ययता से उचित विनियोग करती है। परन्तु श्रम-विभाग की दृष्टि से पुरुष तथा स्त्री दोनों बराबर हैं। पुरुष स्त्री का मालिक नहीं, स्त्री पुरुष की गुलाम नहीं। जिस प्रकार स्त्री, पुरुष पर धन लाने के लिए आश्रित है, उसी प्रकार पुरुष, स्त्री पर धन के विनियोग के लिए और गृहस्थी सँभालने के लिए आश्रित है। स्त्री के लिए सबसे बड़ा सुख माता बनना है, और पुरुष के लिए पिता बनना। अगर श्रम-विभाग के नियम को मानकर, स्त्री की आजीविका के लिए पुरुष के प्रति गुलामी के भाव को मानकर नहीं, स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर को चुना जाय, तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। परंतु कितने लोग हैं, जो श्रम-विभाग के कारण स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर को समझते हैं? अगर श्रम-विभाग के कारण ही स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर है, गुलामी के कारण नहीं

तो हम स्त्री को विस्तृत-शिक्षा के क्षेत्र से क्यों वंचित रखना चाहते हैं ? आख़िर, यह तो आवश्यक नहीं कि प्रत्येक स्त्री ज़रूर ही शादी करे। अगर वह शादी नहीं करना चाहती, और अपनी योग्यता से समाज को लाभ पहुंचा सकती है, तो क्यों न उसके मानसिक-विकास के लिए वे सब क्षेत्र खुले हों, जो पुरुषों के लिए खुले हुए हैं ? इसके अतिरिक्त हमारा समाज जैसा है, उसे कौन नहीं जानता ? अगर कोई पुरुष अपनी स्त्री के साथ दुर्व्यवहार करता है, तो क्यों वह सब-कुछ बर्दाश्त करती हुई समाज की बलि-वेदी पर अपनी आत्मा की आहुति चढ़ा दे ? क्यों न वह पहले से ही इतनी शिक्षा पाई हुई हो कि उसे आजीविका के लिए ऐसे पति की गुलामी ही न करनी पड़े। भारतवर्ष में कितनी विधवाएँ हैं, और कितनों का जीवन नष्ट नहीं हो रहा ? अगर इन्हें शुरू से ही लड़कों की तरह स्वतंत्र आजीविका की शिक्षा दी गई होती, अगर इन्हें पुरुष पर आश्रित होना ही आजीविका का एकमात्र साधन न बताया गया होता, तो इनका जीवन नष्ट होने के बजाय बच जाता, और समाज के किसी काम आता। अगर इन सब बातोंको छोड़ भी दिया जाय, तो भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक पति इतना ज़रूर ही कमा लाए, जिससे कुनबे की परवरिश अच्छी तरह हो सके। कितने घराने हैं, जिनमें बच्चे पर्याप्त कमाई के न होने के कारण तबाह हो जाते हैं। अगर स्त्रियों के लिए सब क्षेत्र खुले हों, तो वे आपत्ति के समय अपने पति का हाथ बँटा सकती हैं, उसकी सहायता कर सकती हैं। मेरे कथन का यह अभिप्राय हर्गिज़ नहीं कि प्रत्येक स्त्री को आजीविका के किसी-न-किसी क्षेत्र में अवश्य पड़ जाना चाहिए। अगर किसी स्त्री ने जान-बूझ कर विवाह के जीवन को चुना है,

तो जब तक वह वैवाहिक जीवन व्यतीत करती है तब तक, अपनी निस्सहाय अवस्था से बाधित होकर नहीं परन्तु श्रम-विभाग के नियम के आधार पर, वह घर को अपना कार्य-क्षेत्र बनाए। ऐसा नहीं कि उस समय घर से बाहर की दुनियाँ को कार्य-क्षेत्र बनाने की उसमें योग्यता न हो; योग्यता हो, ठीक उसी तरह जैसे पुरुष में घर का काम-काज करने की योग्यता होती है। हां, उस योग्यता के होते हुए भी, श्रम-विभाग के नियम के कारण, वह घर का ही काम करे। अगर ऐसी अवस्थाएँ आ जायँ, जिनसे उसकी गृहस्थी टूट जाय—और हिंदू-समाज में तो ऐसी अवस्थाएँ हर समय बनी रहती ह—तो वह ऐसी निस्सहाय नहीं हो जानी चाहिए कि अवस्थाओं का ही शिकार बन जाय। स्त्री की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि उन आपत्तियों के आ टूटने पर, जो हिंदू-स्त्री के सिर पर हर समय मँडराया करती हैं, उसका बाल भी बाँका न हो सके। इसी प्रकार अगर कोई स्त्री विवाह न करना चाहे, तो उसमें भी स्वतंत्र आजीविका के निर्वाह की सामर्थ्य होनी चाहिए। पुरुष का स्त्री पर किसी प्रकार निर्भर न होना, और स्त्री का पुरुष पर हर-एक बात के लिए निर्भर होना, स्पृहणीय अवस्था नहीं है। मैं यह नहीं कह रही कि स्त्रियाँ घर को अपना कार्य-क्षेत्र न बनाएँ, मैं केवल इतना कह रही हूँ कि जो स्त्रियाँ घर को छोड़कर अपनी शक्तियों के विकास का कोई दूसरा क्षेत्र बनाना चाहती हैं, उन्हें पूरी आज़ादी होनी चाहिए। स्त्रियों तथा पुरुषों में भेद है, परन्तु ऐसा कोई मौलिक भेद नहीं है, जिससे जिन कामों के लिए पुरुष योग्य हैं, उनके लिए स्त्रियों को अयोग्य समझा जाय। इस प्रकार के विचार का आधार केवल अब तक की स्त्रियों की गुलामी है।

स्त्रियों को शिक्षा से इसीलिये वंचित रक्खा जाता रहा है क्योंकि पुरुष-समाज स्त्रियों को गुलामी में ही देखने का आदी है। इस गुलामी की अवस्था को पक्की नींव पर क़ायम रखने के लिए स्त्री तथा पुरुष के शारीरिक एवं मानसिक भेदों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता रहा है। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस काम को पुरुष कर सकते हैं, उस काम को स्त्रियाँ भी उसी ख़ूबी के साथ कर सकती हैं। स्त्रियों के लिए उन सब क्षेत्रों के बंद हो जाने का नतीजा यह हुआ है कि स्त्री की परवशता बढ़ गई है, और जिस अनुपात में स्त्री की परवशता बढ़ती गई है, उसी अनुपात में पुरुष की उच्छृंखलता बढ़ती गई है। आज तो कानून बदल गये हैं, परन्तु अब से पहले पुरुषों को क्यों हिम्मत हो जाती थी कि वे एक स्त्री के रहते भी दूसरी से शादी कर लें, और दूसरी के रहते तीसरी से ? क्योंकि वे समझते रहे हैं कि स्त्री पूर्णरूपेण उन पर आश्रित है। वे उसके अधिकारों को जितना कुचलना चाहें, आज़ादी से, बिना प्रतिक्रिया की संभावना के, कुचल सकते हैं। अगर स्त्री को भी पुरुष के बराबर शिक्षा हो, तो वह अपना रास्ता अलग पकड़ सकती है, और क़ानून को अपने हक़ में करवा सकती है; अगर क़ानून उसके विरोध में हो, तो भी बहुत अंश तक अपनी रक्षा कर सकती है। हमारे देश में अनेक देवियाँ विधवा होकर अपने धर्म को खो बैठती रही हैं। इसका कारण केवल यही है कि विधवा होने पर हमारे जघन्य समाज में स्त्री की आजीविका का जो केवल एक साधन —विवाह—था, वह भी उसके पास नहीं रहता, कुत्सित रूप से जीवन बिताने के सिवा उसे कोई दूसरा उपाय ही नहीं सूझता। अगर हमारे समाज में जिस प्रकार लड़के का शिक्षित

होना आवश्यक है, उसी प्रकार लड़की का भी शिक्षित होना आवश्यक समझा जाय, तो विधवाओं के नैतिक-पतन का एक बड़ा भारी कारण दूर हो जाय। पुरुष का स्त्री के प्रति जितना भी क्रूरता-पूर्ण व्यवहार है, सबका कारण यही है कि पुरुष अपने हृदय में समझ रहा होता है कि अगर वह स्त्री पर से अपनी रक्षा का हाथ उठा लेगा, तो स्त्री कहीं की नहीं रहेगी। पुरुष भी इस बात को जानता है; स्त्री भी इस बात को जानती है। इसी भावना के कारण पुरुष का अत्याचार बढ़ता रहा है; स्त्री की कायरता बढ़ती रही है। स्त्री को शिक्षा से वंचित रखने के कारण पुरुष तथा स्त्री का नैतिक-पतन ही हुआ है। आज वह समय आ गया है, जब स्त्री की निस्सहाय अवस्था तथा पुरुष का अत्याचारी रूप––दोनों ने नग्न रूप में प्रकट होकर हमारा ध्यान बरबस 'स्त्री-शिक्षा' की तरफ़ आकर्षित कर दिया है।

स्त्री-शिक्षा का प्रश्न स्त्रियों को कुछ थोड़ा-बहुत पढ़ा देने-मात्र से हल नहीं होगा। स्त्रियों को शिक्षा मिलनी चाहिए, और ऐसी मिलनी चाहिए जिससे वे आजीविका के प्रश्न को स्वतंत्र रूप से हल कर सकें। जब तक वे आजीविका के प्रश्न को हल करने के लिए 'विवाह' को ही जीवन का लक्ष्य समझेंगी, तब-तक वे पुरुषों की गुलामी में बँधी रहेंगी, और तब तक स्वतंत्र भारत के संविधान के बावजूद उन पर वे सब अत्याचार होते रहेंगे, जिनका वे सदियों से आज तक शिकार बनती आई हैं। इस दृष्टि से स्त्रियों को उस सब शिक्षा का अधिकार होना चाहिए, जो अब तक सिर्फ़ पुरुषों की ही बपौती जायदाद समझी जाती रही है। पुरुष स्वतंत्रता से कमा सकता है, तभी तो वह स्त्री पर अपने मालिक होने की धौंस जमाता है! जब स्त्री भी उसी

प्रकार कमा सकेगी, यह ज़रूरी नहीं कि वह कमाए ही—उसकी मर्ज़ी हो कमाए, उसकी मर्ज़ी हो न कमाए—और जो स्त्रियाँ विवाह करने के बाद अपनी अवस्थाओं से संतुष्ट होंगी, उन्हें कमाने की आवश्यकता ही न पड़ेगी—परंतु जब स्त्री में भी पुरुष की तरह कमाने की योग्यता उत्पन्न हो जायगी, तब स्त्री का बहुत-सा दुःख दूर हो जायगा। कम-से-कम पुरुष की गुलामी के कारण जो उसके दुःख हैं, वे तो अवश्य दूर हो जायँगे, क्योंकि उस समय उसे पुरुष पर आश्रित होकर ही नहीं रहना पड़ेगा। कहा जा सकता है कि इस समय तो पुरुषों की शिक्षा भी आजीविका के प्रश्न को नहीं हल कर रही, स्त्रियाँ भी अगर इस क्षेत्र में आ जाँयगी, तो पुरुष तथा स्त्री दोनों भूखे मरने लगेंगे। परंतु प्रश्न यह नहीं है। अगर स्त्रियों के इस क्षेत्र में आने से पुरुष भूखे मरने लगें, तो क्या पुरुषों को हरा-भरा रखने का यही तरीक़ा है कि स्त्रियों को सदा के लिए पुरुषों की गुलामी में ही रक्खा जाय? हमारी शिक्षा प्रणाली दूषित है, वह आजीविका के प्रश्न को हल नहीं करती, इसलिए शिक्षा-प्रणाली को बदलना चाहिए। उसे ऐसे उसूलों पर ढालना चाहिए, जिससे आजीविका का प्रश्न हल हो सक। परंतु जिन उसूलों पर भी वह ढले, आजीविका के प्रश्न को हल करनेवाली शिक्षा-प्रणाली पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों के लिए समानरूप से खुली होनी चाहिए। पुरुष ही उससे लाभ उठा सकें, स्त्रियाँ नहीं, ऐसा अन्याय उसमें नहीं होना चाहिए। अगर यह बात ठीक है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा मानसिक-शक्ति में कमज़ोर होती हैं, तब तो पुरुषों को डरने की कोई वजह भी नहीं है। स्त्रियाँ ख़ुद-ब-ख़ुद प्रतियोगिता में पड़कर पुरुषों से पछड़ जाँयगी, और फिर मैदान पुरुषों के हाथ में ही

आ जायगा। और, अगर यह बात ही गलत है, अगर स्त्रियाँ प्रतियोगिता के क्षेत्र में पड़ कर पुरुषों को पीछे छोड़ देंगी, तब तो सदियों से हो रहा अन्याय दूर हो जायगा। क्या यह स्त्री के प्रति अन्याय नहीं है कि वह किसी क्षेत्र में पुरुष से बहुत अधिक योग्यता रखती हो, और उसे उस योग्यता के संपादन में सिर्फ़ स्त्री होने के कारण रोक दिया जाय? इसी प्रकार, क्या यह समाज के प्रति अन्याय नहीं है कि जो व्यक्ति उत्तम चिकित्सक बन कर, उत्तम शिक्षक बनकर, उत्तम कारीगर बनकर समाज की उन्नति कर सकता है, उसे हमने स्त्री होने के कारण अवसर ही नहीं दिया, और समाज को उसकी योग्यता के द्वारा लाभ उठाने से वंचित रक्खा? स्त्री को इस प्रकार शिक्षा से वंचित रखना 'स्त्री' तथा 'समाज' दोनों के प्रति अन्याय करना है।

स्त्री-शिक्षा का असली प्रश्न यही है, जिसका ऊपर की पंक्तियों में वर्णन किया गया है। पुरुष-समाज स्त्री-शिक्षा पर अपनी दृष्टि से विचार करता है, परंतु इस प्रश्न पर गहराई से विचार करने के लिए स्त्रियों की दृष्टि से भी विचार करने की आवश्यकता है। स्त्रियाँ इसी दृष्टिकोण से इस विषय पर विचार कर रही हैं, और भारतीय-समाज के भाग्य-विधाताओं को इसी दृष्टि-कोण को समझने की आवश्यकता है।

६

समाज की रचना में स्त्रियों का हाथ

हमारे समाज की रचना ऐसी है, जिसमें स्त्री को कोई स्थान नहीं है। स्त्री मानो समाज में रहती हुई भी समाज से निर्वासित है। हिन्दू-समाज में स्त्री को बस इतना ही स्थान है कि उसकी शादी हो जाय, वह बाल-बच्चों की परवरिश कर दे, और इसी में खत्म हो जाय। घर की चहारदीवारी से बाहर स्त्री का कोई काम नहीं, वहाँ स्त्री को कोई स्थान नहीं। स्त्री को इस प्रकार समाज के जीवन-क्षेत्र से धकेलकर शायद यह समझा जाता है कि इससे समाज के समुचित-विकास में कोई क्षति नहीं पहुँचती, समाज का सम-विकास स्त्री के समाज में कोई हिस्सा न लेते हुए भी हो सकता है।

परंतु यह भूल है। स्त्रियों को भले ही कोई 'अबला' कहता रहे, उन्हें शक्ति-हीन समझता रहे, परंतु वे अबला होती हुई भी समाज के जीवन पर अपनी छाप डालती रहती हैं, और उसकी प्रगति में प्रत्यक्ष-रूप में नहीं, तो अप्रत्यक्ष-रूप से हिस्सा लेती रहती है। इस समय संसार की जो प्रगति है, उसे देखते हुए जीवन के किसी क्षेत्र को अन्य क्षेत्रों से जुदा नहीं रक्खा जा सकता। जीवन का हर-एक पहलू दूसरे से मिला हुआ है, और इतना मिला हुआ है कि यदि उसे दूसरे पहलू से अलग कर दिया जाय, तो या तो वह स्वयं किसी काम का नहीं रहता, या दूसरे को भी अपनी तरह निकम्मा बना डालता है। स्त्रियों को

कुटुम्ब तक में बंद करके, उन्हें अशिक्षित तथा मूर्ख रखकर, हमारा यह समझना कि उनका संपूर्ण समाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, समाज-शास्त्र के नियमों को टालने का प्रयत्न करना है। यदि स्त्रियों को संकुचित-क्षेत्र में बंद रक्खा जायगा, तो उनकी संकुचित दृष्टि समाज के जीवन के हर पहलू पर नज़र आएगी। हमारे समाज के कर्ता-धर्ता समझते हैं कि स्त्रियों को समाज से अलग रखकर वे उन्हें समाज में कोई भाग नहीं लेने देंगे, परन्तु यह भूल है, और इस भूल का प्रत्यक्ष प्रमाण देखना हो, तो हिन्दू-समाज पर एक सरसरी नज़र डाल लेना काफ़ी है। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दुओं में स्त्रियों को अवला समझा जाता है, उनका सामाजिक-जीवन से कोई सरोकार नहीं होता, उनकी बड़े संकुचित वायुमंडल में परवरिश होती है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि हिंदुओं का समाज स्त्रियों की संकुचित-दृष्टि का ही एक प्रतिबिंब है। स्त्रियों को जिस मूर्खता में रक्खा जाता है, जिस अँधेरे में उनका लालन-पालन होता है, जिस अविद्या में उनके विचार पकते हैं, वह सब-कुछ हिंदू-समाज में प्रत्यक्ष रूप में आ जाता है। स्त्रियों के विचार ही समाज रूपी दर्पण में सदा प्रतिबिम्बित होते रहते हैं।

आज लोग शिकायत करते हैं कि एक सज्जन बड़े पढ़े-लिखे हैं, प्रगतिशील विचारों के हैं, परंतु वही पीरों की क़ब्रों पर जाकर दुआएँ माँगते हैं! दूसरे सज्जन बड़े भारी समाज-सुधारक हैं, बड़े-बड़े व्याख्यान देते हैं, वही अपनी छोटी-सी दुधमुंही बच्ची का छोटी उम्र में विवाह रच डालते हैं! एक तीसरे देश के नेता दो घंटे तक गला फाड़कर दहेज़ की कुप्रथा का विरोध करते हैं, और वही अपने लड़के की शादी पर दहेज़ के लिए अड़ जाते हैं! सुधारक संस्थाओं

के बड़े-बड़े संचालक जन्म-मूलक जाति-पाँति के बंधनों को तोड़ने के लिए कागज़-के-कागज़ स्याह कर डालते हैं, परंतु वही अपने लड़के के लिए अपनी जाति की कन्या ढूँढ़ने के लिए अख़बारों में नोटिस देते हैं! आज हम जैसा कहते हैं, वैसा करते नहीं! यह क्यों? इसका क्या कारण है? हमारे पुरुष-समाज के विचारों और आचारों में इतनी विषमता क्यों है? क्यों वे जैसा संसार के सामने कहते हैं, वैसा करने को तैयार नहीं होते? इस समस्या पर थोड़े ही लोगों ने विचार किया होगा, परंतु इसका एकमात्र कारण यह है कि अछूतोद्धार पर प्रस्ताव तो पुरुष-समाज में पास होते हैं, और वही लोग जो उसके समर्थन में हाथ उठाते हैं, जब घर पहुँचते हैं, तब अपने घर की देवियों को अपने अनुकूल नहीं पाते। समाज-सुधारक व्याख्यान देते हुए तो बाल-विवाह के विरुद्ध बोल सकता है, उसे बोलने से रोकने वाला कौन है, परन्तु वही जब अपनी दक़ियानूसी विचारोंवाली माता के सम्मुख पहुँचता है, तब उसके आगे सुधारक की एक नहीं चलती। दहेज़ की कुप्रथा को लताड़ना आसान है, परन्तु जब पत्नी इस बात में पति के विचारों का साथ नहीं देती, तब पति को भी अपने विचार प्रकट करके ही रह जाना पड़ता है। जाति-पाँति की उलझनों को दूर करने के लिए व्याख्यान तो दिए जा सकते हैं, परंतु जब सुधारक अपने घर में माँ, बहन, स्त्री—सब को अपने विरुद्ध खड़ा हुआ देखता है, तब उसकी भी हिम्मत टूट जाती है! स्त्रियों को समाज से अलग रखने का परिणाम यह हुआ है कि स्त्रियों ने प्रत्यक्ष-रूप से नहीं, तो अप्रत्यक्ष-रूप से, परोक्ष-रूप से, समाज को प्रभावित करना शुरू कर दिया है, और उसी का नतीजा यह हुआ है कि पुरुषों के कहने तथा करने में ज़मीन-आसमान का अंतर पड़ गया है।

पुरुष कहता वह है, जो उसका दिमाग़ सोचता है, परन्तु करता वह है, जो उसकी स्त्री कहती है। विकास के मार्ग में स्त्री को अपने साथ न रखने का परिणाम यह हुआ है कि आज पुरुष कहने को बहुत-कुछ कहता है, परन्तु करने को उसीका सौवाँ हिस्सा भी नहीं करता। जो-कुछ करता है, वह वही होता है, जो उसे स्त्री करने को कहती है। क्या इससे अच्छा यह न होता कि पुरुष स्त्री को अपने साथ लेकर चलता, और समाज में जो कहा जाता, वही किया भी जाता ?

आज हिन्दुओं के समाज का विशाल पोत बिना किसी बंदरगाह के आए खड़ा हो गया है। जहाज़ का लंगर नहीं उठता, और जहाज़ चलने नहीं पाता। हमारे भारी जहाज़ का लंगर हमारा 'स्त्री-समाज' है। जिस प्रकार लंगर चलते हुए जहाज़ को खड़ा कर देता है, उसी प्रकार 'स्त्री-समाज' ने चलते हुए हिंदू-समाज को खड़ा कर दिया है। लंगर इतना भारी हो गया है कि जहाज़ सदियों से एक ही जगह खड़ा है। जो लंगर जहाज़ को दुनिया की सैर कराने का एक-मात्र साधन था, वही आज उसे एक इंच भी हिलने नहीं देता। समाज की तुलना चलती गाड़ी से भी की जा सकती है। भागती हुई गाड़ी के वेग को रोकने के लिए उसमें 'ब्रेक' लगा होता है। उसके लगते ही गाड़ी खड़ी हो जाती है। 'स्त्री-जाति' को इस समय हिंदू-जाति की चलती गाड़ी का 'ब्रेक' कहा जा सकता है। हमारी जाति आज या कल से नहीं, सदियों से एक ही जगह पर खड़ी है। 'स्त्री-जाति' का ब्रेक इस पर ऐसा ज़बरदस्त लगा है कि आज एंजिन में कितनी ही स्टीम क्यों न भरें, यह टस-से-मस नहीं होता। हवा से बातें करने वाली गाड़ी बिना किसी स्टेशन के आए जंगल में रुक गई है। ब्रेक ने पहियों को

जकड़कर पकड़ लिया है, और देर तक यही अवस्था रहने के कारण अब पहियों पर भी ज़ंग लग गया है। स्त्री को हमारे समाज में तुच्छ जीव समझा गया है, उसे समाज में कहीं कोई स्थान नहीं दिया गया, परंतु उसी निर्वासिता अबला ने पुरुष-समाज को पीछे से ऐसा खींच लिया है कि वह एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ पाता। आज स्त्रियाँ अपने पर किए गए अत्याचारों का बदला पुरुष-समाज से ले रही हैं, और जहाँ पर भी पुरुष आगे क़दम बढ़ाने में झिझकते पाए जाते हैं, वहीं उनकी पीठ के पीछे किसी-न-किसी 'देवी' के हाथ में उनकी नकेल दिखाई देती है। हिंदुओं का पुरुष-समाज आगे नहीं बढ़ता—इसका यह कारण नहीं कि उसमें हिम्मत नहीं। हिम्मत है, परंतु उसके एक क़दम आगे बढ़ाते ही दूसरा क़दम पीछे खींचने वाले सैकड़ों हाथ निकल पड़ते हैं।

जिस दिशा में हम समाज को बढ़ाना चाहते हैं, वह स्वयं सरल तथा निष्कंटक है; जिन सुधारों को हम समाज में लाना चाहते हैं, वे स्वयं आसान हैं; परंतु स्त्री-समाज को बल-पूर्वक अलग रखने के कारण आज निष्कंटक मार्ग कंटकाकीर्ण हो चुके हैं, सरल मार्ग दुर्गम तथा बीहड़ बन चुके हैं। स्त्री-समाज को मनुष्य-समाज से सर्वथा अलहदा करने का नतीजा आज हिंदू-जगत् भुगत रहा है। अगर किसी की आँखें हों, तो वह देख सकता है कि स्त्री-समाज को मानव-समाज से सर्वथा काटकर अलग कर देना कितना असंभव है। जिन सुधारों को हम करना चाहते हैं, वे कितने सरल हैं, कितने आसान हैं। क्या छोटी-छोटी-सी बातें हैं! विवाह में जाति-पाँति तोड़ने का मामूली-सा प्रश्न है। क्या नौजवानों के लिए यह साधारण-सी बात कर दिखाना भी कोई कठिन काम है? यदि सुधार

इसी तरह की बात का नाम है—और इसमें शक नहीं कि असल में इसी तरह की बातों का नाम सुधार है—तो देश के नौजवान जाति के भवन को मलिन करने वाली इस गंदगी को झाड़ू के एक झपेटे से साफ़ कर सकते हैं; हाथ मारकर मकड़ी के जाले के समान थोथी कुरीतियों का नामोनिशान मिटा सकते हैं, एक फूँक में इस धूल को उड़ा सकते हैं! जाति-पाँति तोड़ना भी भला कोई मुश्किल काम है! नवयुवक का तो सीधा जवाब है—जाति में विवाह न किया, जाति अपने आप टूट गई। परन्तु नहीं, यह प्रश्न जो मकड़ी के जाले को मिटा देने के समान तुच्छ है, आज जटिल बना हुआ है। कोई छिपी हुई शक्ति मकड़ी के जाले के एक-एक तंतु को फ़ौलादी तारों में बदलती जा रही है, या नवयुवकों के आत्मिक बल का इतना शोषण कर रही है कि उनमें मकड़ी के जाले को भी छिन्न-भिन्न कर देने की शक्ति नहीं रहती। इस शक्ति-हीनता का क्या कारण है? कारण है केवल एक, और वह यह, कि जाति तोड़ने का नाम लेते ही घर में कोहराम मच जाता है, होनहार युवक की माता समझती है कि बेटा कुल को कलंक लगाने लगा है। 'हाय! वह बूढ़ी पड़ोसिनों में बैठकर उनके वाक्य रूपी तीरों को कैसे सहन करेगी!' 'लोग क्या कहेंगे!' ये 'लोग' क्या चीज़ हैं? 'लोग' का मतलब है मूर्खता की मूर्तिमयी अड़ोसिन-पड़ोसिन वृद्धाएँ। चाहो, तो चार बरस के लड़के-लड़की को ब्याह दो, बूढ़े के गले में नन्ही बालिका को लटका दो, यह सब धर्म के दायरे में गिना जा रहा है, बस, जाति-पाँति के घेरे के बाहर पाँव न रक्खो। नवयुवक के हृदय में उबलते हुए उत्साह पर उसकी माता के आँसुओं का छींटा पड़कर उसे एक दम ठंडा कर देता है। सुधार का जहाज़ हिलने लगता है,

परंतु लंगर उसे फिर वहीं-का-वहीं खड़ा कर लेता है। गाड़ी के पहिए गति करने लगते हैं, परन्तु अपनी जगह पर ही चक्कर मार-मार कर रह जाते हैं।

कौन नहीं जानता कि ब्याह-शादियों पर आवश्यकता से अधिक व्यय नहीं करना चाहिए! जो व्यक्ति पसीना बहाकर रुपया कमाता है, वह रुपए को पानी की तरह बहाने की मूर्खता नहीं कर सकता, उसे मालूम है कि फिर वैसी ही चक्की-पिसाई होनी है। हाँ, स्त्रियों को इस बात का किंचिन्मात्र भी ध्यान नहीं होता। उन्हें एक ही बात मालूम है। उनकी वही में लिख रक्खा है कि किसने अपनी लड़की की शादी पर कितना ख़र्च किया। बस, अब अपनी लड़की की शादी में किसी से कम नहीं रहना! यही एकमात्र जीवन का ध्येय है! लड़की की शादी के समय चार-पाँच हज़ार का ख़र्च करना ज़रूरी है, फिर उसे दो हज़ार रुपए ख़र्च करके कौन पढ़ाए! या उसे पढ़ा ही लें, या उसकी शादी ही कर लें। दोनों बोझ कौन उठा सकता है। हमारी माननीय वृद्धाओं की इसी फ़िलासफ़ी का नतीजा है कि आज जो लड़कियाँ पढ़-लिखकर देश के बोझ को हल्का करने में हाथ बँटा रही होतीं, वे आज स्वयं भार बन कर देश को डुबो रही हैं। बहुत लड़कियों के पिता ऋण के बोझ से कमर तोड़ लेते हैं; क्या इस नरक-यातना को वे स्वयं मोल ले लेते हैं? नहीं, यह हो ही नहीं सकता! इसका कारण उनके पाँवों की बेड़ियाँ और हाथों की हथकड़ियाँ—उनके घर की स्त्रियाँ—हैं! उन्हें अपने पति की कमाई से कोई सरोकार नहीं। उन्हें तो अपनी पड़ोसिनों से 'कंपिटीशन' करना है, उनका मुक़ाबिला करना है। नाक बहुत बढ़ा ली है, उसी की हिफ़ाज़त की फिक्र करना है! अफ़सोस! स्त्रियाँ अपनी नाक

रखने के लिए अपनी संतानों की नाक कटवाने में कोई हर्ज नहीं समझतीं। कोई कुएँ में कूद पड़ने का डर दिखलाकर, कोई ज़हर खाकर प्राण छोड़ने की धमकी देकर, कोई दिन-रात आँसुओं की झड़ी लगाकर पुरुष-जाति से ऐसे-ऐसे अनर्थ करवा रही हैं, जिनसे समाज-वृक्ष की जड़ों को घुन खाता चला जा रहा है। कम-से-कम हिंदू-समाज तो इन्हीं कारणों से संसार की सभ्य जातियों के सम्मुख मुख दिखलाने के लायक भी नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार के और न-जाने कितने सुधार हैं, जो स्त्रियों के पुरुष-जाति का साथ न देने के कारण रुके पड़े हैं। सब कुप्रथाओं का पिता 'बिरादरी' को कहा जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि किसी समय बिरादरियाँ ही हिंदू-समाज को उन्नति की तरफ़ ले जाने वाली संस्थाएँ थीं, परन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि वर्तमान अवस्था में जब तक बिरादरियों को तोड़-फोड़ नहीं दिया जाता, तब तक हमारा समाज उन्नति की तरफ़ एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। आज सुधार इसलिये नहीं चलते, क्योंकि बिरादरियाँ उन्हें चलने ही नहीं देतीं। जिसकी नसें बहुत अधिक फड़कती हों, उसे बिरादरियाँ एकदम दूध से मक्खी की तरह उठाकर अलग फेंक देती हैं। पहले जहाँ समाज को गंदगी से अलग रखने का साधन बिरादरी बनी हुई थी, वहाँ आज जब कि छिद्र पाकर एक बार गंदगी अन्दर आ घुसी है, उसे अंदर से बाहर न निकलने देने की ठेकेदार भी बिरादरी ही बनी हुई है।

परन्तु यह बिरादरियों का भूत हम पर सवार क्यों है? इसका हिंदू-समाज में अव्याहत शासन चलता कैसे है? उत्तर है—स्त्रियों के कारण! क्या आज बीसवीं सदी में भी कोई

नवयुवक बिरादरी की परवा करता है? बिरादरीवाले ज़्यादा-से-ज़्यादा क्या करेंगे? हुक्का ही तो नहीं पीने देंगे! खैर, हुक्का न सही—नहीं पिएँगे। जो बिरादरी की तरफ़ पीठ फेरेंगे, क्या वे हुक्के के बगैर न जी सकेंगे? परन्तु फिर भी बिरादरी के शासन के सम्मुख नवयुवक की पीठ टूट जाती है। इसका यह कारण नहीं कि वह बिरादरी से डरता है, परन्तु इसका कारण उसकी आँखों क सम्मुख रोती-कलपती उसकी माता, उसकी बहन या उसकी स्त्री है। स्त्रियों के दिमागों में आज़ादी दिखाई नहीं देती, वे एक बार 'बिरादरी' को अपना सर्वस्व, आराध्य-देव मान चुकी हैं, अब बिरादरी के बगैर वे पानी के बिना मीन की तरह व्याकुल हो जाती हैं। आज बिरादरियाँ पुरुषों के ऊपर, स्त्रियों के द्वारा, शासन कर रही हैं। पुरुष बिरादरियों से नहीं डरते, स्त्रियों से डरते हैं, और क्योंकि स्त्रियाँ बिरादरियों से डरती हैं, इसलिए पुरुषों को भी बिरादरियों से डरना पड़ता है। इसीलिए तो कहना पड़ता है कि स्त्रियों के कारण ही हमारे सब सुधार रुके पड़े हैं।

हमने स्त्रियों को समाज में कोई स्थान नहीं दिया, उन्हें समाज से निर्वासित कर दिया, परन्तु आज शायद पुरुष-समाज को अनुभव हो रहा है कि स्त्रियों को इस प्रकार समाज से निकाला नहीं जा सकता। आज स्त्रियाँ पुरुषों से कौड़ी-कौड़ी का हिसाब चुका रही हैं। प्रकृति का अटल नियम काम कर रहा है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अब स्त्रियाँ पुरुषों को एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ने देंगी। यदि पुरुष आगे बढ़ेंगे, तो स्त्रियाँ कुएँ में कूद पड़ेंगी, ज़हर खा लेंगी, जान पर खेल जाँयगी, परंतु जब तक दम-में-दम है, पुरुषों को अपनी दुर्दशा दिखलाती हुई उन्हें अकेले अपनी उन्नति नहीं

करने देंगी। स्त्री-जाति, जिसे संकुचित वायुमंडल में रक्खा गया है, समाज के जीवन पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती। पुरुष जिस वायुमंडल में रहते हैं, वह खुला वायुमंडल है, उसमें परिवर्तन होता रहता है, उसमें पुराने विचारों के स्थान पर नए विचार आते-जाते रहते हैं। इसके विपरीत पुरुषों ने स्त्रियों को सदियों से एक ही प्रकार के घुटे हुए वायु-मंडल में क़ैद कर रक्खा है। परंतु स्त्री क़ैद में रहती हुई भी, पर्दे में पड़ी हुई भी, समाज में न रहती हुई भी समाज पर अपनी पूरी-पूरी छाप डाल रही है। पुरुष कितना ही आगे बढ़ना चाहें, स्त्रियों के लिए भले ही कितनी बार 'अबला'-शब्द का प्रयोग करें, परन्तु स्त्रियाँ इतनी 'सबला' हैं कि उनके विचारों की छाप हर हालत में समाज पर पड़ती रहेगी। समाज वही होगा, जो स्त्री होगी; वह नहीं होगा, जो पुरुष होगा। स्त्री को समाज से धकेल कर अगर पुरुष आगे बढ़ना चाहेगा, तो अपनी ही बनाई हुई बेड़ियों से इस प्रकार जकड़ जायगा कि आगे क़दम ही नहीं रख सकेगा। इसलिए यह समझना कि स्त्रियों को कुटुम्ब तक में क़ैद रखकर, उन्हें सार्वजनिक-जीवन से वंचित रखकर समाज का भला हो सकता है, एक घातक विचार है।

इस समय भी जब कि हम समझ रहे हैं कि स्त्रियाँ समाज की रचना से सर्वथा अलग हैं, स्त्रियों का छिपा हुआ हाथ समाज के प्रत्येक कार्य में दिखलाई दे रहा है। यद्यपि स्त्रियाँ हमारे समाज की रचना में प्रत्यक्ष-रूप से कोई हिस्सा नहीं ले रहीं, तो भी समाज का कोई कार्य ऐसा नहीं, जिसमें उनकी छाप न हो, उनका प्रतिबिंब न हो। स्त्रियों का काम प्रत्येक कार्य में उत्तेजना देना, उसके लिए उत्साह उत्पन्न करना, उसमें जान डाल देना

है। अगर वह अच्छा कार्य है, तो वह तेज़ी से और ख़ूबसूरती से होने लगता है; अगर बुरा कार्य है, तो वह भी तेज़ी से और ज़ोर से होता है। अभी दर्शाया जा चुका ह कि किस प्रकार स्त्रियों के संकुचित विचारों के कारण ही हमारा समाज विकास की तरफ़ नहीं बढ़ रहा, संकुचित हो रहा ह, रूढ़ियों का शिकार बन रहा है। स्त्रियों के ऊँचे आदर्शों के कारण समाज उन्नति करने लगता है; उनके नीचे आदर्शों के कारण वह गिरने लगता है। संसार के निकृष्ट कामों के पीछे जहाँ किसी-न-किसी-स्त्री का हाथ था, वहाँ संसार के उत्कृष्ट कामों के पीछे भी किसी न-किसी देवी का हाथ रहा है। श्रीरामचन्द्र जिस समय जंगल में निवास कर रहे थे, उस समय कौन आशा कर सकता था कि वह रावण-जैसे महाबली तथा पराक्रमी राक्षस के साथ युद्ध की तैयारी करने लगेंगे, परंतु महारानी सीता का अपहरण किया जाना एक महा-संग्राम का कारण बन गया, और तपस्वी राम धनुष-बाण लेकर असुरों का संहार करने के लिए रणांगन में जा कूदे। महाभारत का युद्ध शायद कभी महा-संग्राम के नाम से विख्यात न होता, यदि उसमें द्रौपदी ने अपमानित होकर भीम तथा अर्जुन को धिक्कारा न होता। अभिमन्यु नया विवाह करके आया था, उसके दिन सुख-चैन से जीवन व्यतीत करने के थे। वह कभी जान को हथेली पर रखकर जंग में न जूझा होता, अगर उसकी नव-विवाहिता पत्नी उत्तरा ने उसके कटि-प्रदेश में शस्त्र न बाँधे होते और युद्ध में जाते समय उसकी पीठ न ठोकी होती। राठौर राजा यशवंतसिंह को हारकर आता देखकर अगर उसकी रानी ने दुर्ग के फाटक बन्द न कर दिये होते, तो राणा दुबारा शत्रुओं पर टूटकर अपने कुल तथा वंश की लाज न बचा सकता। छत्रपति शिवाजी को

भी उनकी माता का प्रोत्साहन समय-समय पर हताश होने से बचाता रहता था। संसार के इतिहास के पन्नों को पलट जाइए, उसमें ऐसे दृष्टान्त जगह-जगह भरे पड़े हैं, जिनमें स्त्रियों ने कभी माता के रूप से, कभी बहन के रूप से, कभी पत्नी के रूप से पुरुषों के मुर्दा दिलों में जान फूँकी है, और उनमें कार्य-शक्ति का संचार कर उन्हें मैदान में आगे क़दम बढ़ाने के योग्य बनाया है।

योरप की वर्तमान सामाजिक उन्नति का भी मुख्य कारण वहाँ की स्त्रियों का उन्नतिशील होना है। इस समय योरप में स्त्रियाँ सुशिक्षिता हैं, वे अपने अधिकारों को समझती हैं, उन्हें चहारदीवारी में बंद करके नहीं रक्खा जाता, इसीलिए योरप का सामाजिक जीवन एक खुला, विस्तृत तथा उदार जीवन है। उस जीवन में अन्य चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, परन्तु उसे भारतीय जीवन की तरह संकुचित, रूढ़ियों से घिरा हुआ तथा तंग दायरों में बंद नहीं कहा जा सकता। वहाँ की स्त्रियाँ पढ़-लिख कर जीवन के प्रश्नों पर स्वयं विचार करती हैं, और उन्हीं के प्रकाश में अपने प्रश्नों को हल करती हैं। इधर भारत की स्त्रियों में स्वतंत्र विचार करने की शक्ति ही नहीं उत्पन्न होती। हो भी कैसे, जब उन्हें स्वतंत्र वायुमंडल में विचरने ही नहीं दिया जाता? स्त्रियों के दिमाग जितने भारतवर्ष में गुलामी में कसे हुए हैं, उतने दूसरी जगह नहीं। इसी गुलामी का नतीजा है कि हमारे समाज में चारों तरफ़ गुलामी के विचार नज़र आते हैं। उन्नति की तरफ़ ले जाने वाला कोई भी कदम क्यों न हो, उसे पीछे घसीटने के लिए हज़ारों हाथ हर समय तैयार रहते हैं। यदि स्त्रियों को सुशिक्षिता बनाया जाय, उनकी खुले वातावरण में परवरिश हो, तो यह कभी हो

नहीं सकता कि समाज के विस्तृत जीवन पर उनका प्रतिबिंब न पड़े। जिस समय हमारी पुरानी व्यवस्थापिका-सभा ने बाल-विवाह-निषेधक बिल पास किया था उस समय इस सुधार का अनेक स्थानों पर विरोध हुआ। परन्तु यदि स्त्रियाँ संकल्प कर लेतीं कि वे इस सुधार के विरोधियों को चुप करा देंगी, तो कभी हो नहीं सकता था कि ऐसे अच्छ सुधार का कोई भी विरोध कर सकता। स्त्रियाँ जिस काम को हाथ में लेंगी, उसमें सफलता होना अवश्यंभावी है, परन्तु जिस देश की स्त्रियाँ मूर्खता के गढ़े में पटक दी जाँय, वहाँ स्त्रियों से किस प्रकार की आशा की जा सकती है? योरप की स्त्रियाँ इतनी जाग्रत् हो गई हैं कि वे अपना भला-बुरा स्वयं सोच-समझ सकती हैं। वहाँ के सार्वजनिक-जीवन में वे प्रत्यक्ष-रूप से हिस्सा ले रही हैं, और जहाँ अपनी जाति पर वे किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होने देतीं, वहाँ उनकी जागृति का परिणाम पुरुष-समाज पर भी प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। यह एक सत्य सिद्धांत समझना चाहिए कि जिस औसत में किसी देश की स्त्रियाँ सुशिक्षिता तथा अपने अधिकारों को समझनेवाली होंगी, उसी औसत में उस देश के पुरुष उन्नतिशील तथा हिम्मतवाले होंगे। जिस औसत में किसी देश की स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी तथा उच्च विचारों की होंगी, उसी औसत में उस देश के पुरुष-समाज के कहने तथा करने में कम अंतर होगा। आज योरप में जो कहा जाता है, वही किया भी जाता है, क्योंकि वहाँ स्त्रियों को उतना ही सुशिक्षित तथा मनुष्यता के दायरे में समझा जाता है, जितना पुरुषों को। स्त्रियाँ ही तो पुरुषों में कर्मण्यता का संचार करती हैं। योरप की स्त्रियाँ सुशिक्षिता हैं, इसलिए वे अपने देश के पुरुष-समाज में कर्मण्यता का संचार कर रही हैं। भारत में

स्त्रियाँ पुरुषों में कर्मण्यता का संचार क्या करेंगी, जब उन्हें अपने अधिकारों का ही ज्ञान नहीं, जब उनमें उतनी शिक्षा ही नहीं, जिससे कर्मण्यता का संचार किया जा सकता है। हमारी दृष्टि से योरप में आचार की मर्यादा चाहे कितनी शिथिल हो, वहाँ के लोगों ने इस बात को समझा है कि समाज की रचना में स्त्री-जाति को छोड़ा नहीं जा सकता, और इस दृष्टि से भारत को योरप से बहुत-कुछ सीखना है।

भारत का स्त्री-समाज अशिक्षित है, वह पुरुष-समाज में कर्मण्यता का संचार कैसे करे? जो-कुछ यहाँ का स्त्री-जगत् जानता है, वही पुरुष-समाज से करा रहा है। स्त्री-जगत् मूर्खता के गढ़े में पड़ा हुआ है, इसलिए वह हिंदू-समाज के बड़े-बड़े धुरंधर विद्वानों को भी उसी गढ़े में घसीट रहा है। हमारा समाज लाख कोशिश करने पर भी करवट नहीं ले रहा, अफ़ीम खाए पड़ा है—इस दुरवस्था को दूर करने का एकमात्र उपाय है स्त्री-समाज का चैतन्य हो जाना।

देश की जो दुरवस्था है, उसका चित्र खींचने की ज़रूरत नहीं। मानसिक गुलामी की बेड़ियाँ चारों तरफ़ से हमें जकड़े हुए हैं। कहीं दलितों की समस्या है, कहीं विधवाओं का रोना है, कहीं बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वानों का अपने प्राचीन गौरव को भूलकर पश्चिमी सुर-में-सुर मिलाने का उपहासस्पद दृश्य है। भारतमाता की इस दीन-हीन अवस्था को सुधारने के लिए अनेक प्रयत्न हो रहे हैं, परन्तु किसी में सफलता प्राप्त नहीं होती। कारण यही है कि शक्ति का स्रोत स्त्री-जाति है, कर्मण्यता की धारा को वही प्रवाहित कर सकती है। प्राचीन इतिहास में स्त्री-जाति ने अप्रत्यक्ष-रूप से समाज के चक्र को चलाया है, इस समय भी उसी का हाथ, हमारे बिना देखे, समाज-चक्र को चला

रहा है। जब तक स्त्री-जाति जाग्रत् न होगी, जब तक वह चैतन्य न होगी, जब तक उसके अधिकारों की पुकार बहरे कानों में पड़ती रहेगी, तब तक हमारा समाज इसी प्रकार असफलता के थपेड़े खाता रहेगा।

भारत की अवनति में स्त्रियाँ जहाँ तक कारण बन रही हैं, हम उसे भली भाँति समझ नहीं रहे हैं। हमारे व्यवहार से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हम समाज में स्त्रियों की सत्ता से भी अनभिज्ञ हैं। परन्तु अपने को धोखा देने से क्या फ़ायदा ? भारतवर्ष के प्रश्न अधिकतर स्त्रियों के कारण विकट रूप धारण किए हुए हैं, और उन प्रश्नों को हल करने के लिए शक्ति-भर स्त्रियों में 'एजिटेशन' करना ज़रूरी है। इस महान् कार्य को करने के लिए जीवन अर्पण कर देने वाली अपनी तपस्विनी पुत्रियों की प्रतीक्षा में भारत-माता अपने फटते दिल पर हाथ रखकर चारों तरफ़ निहार रही है। माता के जर्जरित कलेवर की दशा देखकर जिन देवियों का हृदय संताप से भर आता है, वे जगदंबा के चरणों का ध्यान कर यह प्रण करके उठ खड़ी हों कि दरवाज़े खटखटाते हुए अपनी बहनों को जगाने में ही वे अपना सुहाग समझेंगी। परमात्मा करे कि ऐसी देवियों से भारत-माता की कोख भर जाय। जिस दिन यह स्वप्न स्वप्न नहीं रहेगा, क्रिया में परिणत हो जायगा, उस दिन भारत-माता का कल्याण होगा। भारत की देवियों के जागते ही इस देश के जहाज़ का लंगर उठेगा, और यह विशाल पोत सदियों तक एक ही जगह खड़ा रहने के अनन्तर फिर से अपने लक्ष्य की तरफ़ बढ़ने लगेगा।

१०

स्त्री की हीनता सम्पूर्ण-समाज की हीनता का कारण है

१. स्त्रियों की हीन-दशा

एक समय था जब अपने देश में स्त्री तथा पुरुष की एक-समान स्थिति समझी जाती थी। वेदों के समय लोपामुद्रा, श्रद्धा, सरमा, रोमशा, विश्ववारा, अपाला, यमी, घोषा आदि स्त्री-ऋषिकाओं का वर्णन पाया जाता है, जिन्होंने ऋषियों के समान वेदों के गूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार किया था। बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्मवेत्ता गार्गी की कथा का उल्लेख है, जिसने राजा जनक की विद्वानों से भरी सभा में ऋषि याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया था। अथर्ववेद में स्त्री को साम्राज्ञी का नाम दिया गया है। रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक पर जब राजसूय यज्ञ होने लगा, तो उन्हीं ब्राह्मणों ने जो स्त्री के अधिकार का विरोध करते हैं, यह घोषणा की थी कि पत्नी के बिना पति का यज्ञ अधूरा है, और सीता जी के वहाँ न होने के कारण उनकी स्वर्णमूर्ति रामचन्द्र जी के साथ प्रतिष्ठित की थी। भारत के मध्य-काल में भी स्त्रियों के अगाध पंडिता होने के दृष्टान्त पाये जाते हैं। जिस समय शंकराचार्य ने अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित मण्डन मिश्र को परास्त कर दिया उस समय उसकी स्त्री विद्याधरी ने शंकराचार्य को परास्त किया।

स्त्री का यह युग भारत के इतिहास का स्वर्णीय युग कहा जा सकता है। एक विद्वान् का कथन है, कि यदि किसी देश के साँस्कृतिक स्तर का पता लगाना हो, तो पहले यह देखो कि वहाँ की स्त्रियों की अवस्था कैसी है। अगर उस देश की स्त्रियों को दुतकारा जाता है, उनकी हीन दशा है, तो वह देश उन्नति की दौड़ में आगे नहीं बढ़ सकता। इसी सत्य की घोषणा करते हुए मनु ने कहा था—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:'—जहाँ स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, वहाँ पुरुषों की गिनती देवताओं की कोटि में की जाती है। भारत का यह स्वर्णिम काल जिसमें स्त्रियों को मनुष्यता के पूर्ण अधिकार मिले हुए थे, सैकड़ों साल हुए भारत से लुप्त हो गया। इस देश में स्त्री और शूद्र को एक कोटि में गिना जाने लगा। जो स्त्रियाँ वैदिक-काल में धर्म की प्राण थीं, उन्हीं स्त्रियों को श्रुति का पाठ करने के अयोग्य घोषित किया गया। 'स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्'—जैसे वाक्यों की मनगढ़न्त रचना कर के स्त्रियों को पढ़ने तक के अधिकार से वंचित कर दिया गया। तुलसीदास जैसे कवियों ने 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'-जैसे लचर पद्यों की रचना की। स्त्री की हीनावस्था की चरम सीमा आ गई। उसे मनुष्य की कोटि में भी गिनना छोड़ दिया गया, उसके सब अधिकार छीन लिये गए, उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नष्ट कर दिया गया, उसकी समाज में स्थिति शून्य कर दी गई, उसे पैर की जूती समझा जाने लगा। जहाँ पुरुष के लिए १६ संस्कार माने जाते थे, वहाँ स्त्री के लिए केवल एक ही संस्कार रह गया—'वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिक: स्मृत:'—स्त्री के लिए विवाह ही एक संस्कार है, यह घोषणा की गई। जन्म लेने के बाद ही कन्या का विवाह किया

जाने लगा। विधवा होने पर उसे आग से धधकती चिता में भस्म किया जाने लगा। सती-प्रथा बंद हुई, तो उसे सिर मुंडा कर जीता-जागता अपशकुन बन कर बैठे रहने के लिए कहा गया। जिस स्त्री के लिए कभी कहा गया था—'सुमंगलीरियम् वधूः इमाम् समेत पश्यत'—इस मंगलकारिणी वधू को आकार सब लोग देखो, उसे पर्दे के अन्दर बन्द कर दिया गया और उससे पढ़ने-लिखने के सब अधिकार छीन लिये गए। स्त्री के पतन की यह पराकाष्ठा थी।

२. स्त्री की हीन-दशा का सम्पूर्ण समाज पर प्रभाव

स्त्री की इस हीन अवस्था का प्रभाव केवल स्त्री पर रहा हो, यह बात नहीं है। यह तो प्रकृति का नियम है कि अगर शरीर का कोई एक अंग भी रोगी हो जाय, तो सारा शरीर रोगी हो जाता है। अगर किसी के एक अंग में चोट लगे, तो सारा शरीर बिस्तर पर पड़ जाता है। लोहे की साँकल की कड़ियाँ कितनी कठोर और मज़बूत क्यों न हों, उसका बल उसकी सबसे कमज़ोर कड़ी के ऊपर निर्भर रहता है। किसी भी देश में स्त्रियों की संख्या पुरुषों के लगभग बराबर ही होती है। अगर उस देश में स्त्रियों को अपढ़, अबला, अधिकार-शून्य रखा जाये, तो सारे देश का उस साँकल के समान खिचाव में एकदम टूट जाना स्वाभाविक है जिसकी एक भी कड़ी कमज़ोर है। अपना देश दूसरे देशों की तुलना में किस दृष्टि से कम रहा है? यहाँ ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक, विद्वान्, कवि—सब रहे हैं, परन्तु हम लोग उन्नतिशील देशों की गणना में सदा पिछड़े हुए ही गिने जाते रहे हैं। इसका कारण सिर्फ़ यह है कि यद्यपि हमारे देश का एक अंग उन्नत तथा समृद्ध है, तथापि दूसरा अंग निर्बल तथा शक्तिहीन है। स्त्री-समाज की इस निर्बलता का प्रभाव सम्पूर्ण समाज को निर्बल तथा शक्तिहीन

बना रहा है। विदेशों में जब भारत की संस्कृति तथा सभ्यता की चर्चा होती है, तब अपने देश को लजाने के लिए इतना कहना भर काफ़ी होता है कि तुम तो स्त्रियों को पर्दे में बन्द रखते हो, उन्हें पैर की जूती समझते हो। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि कोई समाज तब तक प्रगति के क्षेत्र में आगे कदम नहीं बढ़ा सकता, जब तक वह अपने सम्पूर्ण समाज को, समाज के सब अंगों को एक-साथ लेकर आगे नहीं बढ़ता। जिस देश में स्त्रियों को किसी प्रकार के भी अधिकार से जितने अंशों में वंचित किया जाता है, उस देश का स्त्री-समाज ही नहीं, लेकिन सम्पूर्ण समाज उतने ही अंश में कमज़ोर और शक्तिहीन हो जाता है।

३. समाज-सुधारकों का युग

इस सत्य को पिछले सौ सालों से हमारे देश के समाज-सुधारक भली प्रकार समझते रहे हैं। ऋषि दयानन्द, राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, गोविन्द रानाडे तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जब देश की रूढ़ियों, कुरीतियों तथा अन्ध-विश्वासों का सुधार करने निकले, तो उनके सामने यह सत्य एक दम प्रगट हो गया कि समाज में इन सब की जड़ स्त्री-समाज की हीनावस्था है। आखिर, रूढ़ियों, कुप्रथाओं तथा अन्ध-विश्वासों का रूप क्या है? स्त्रियों को परदे में बन्द रखना, पति के मर जाने पर स्त्री को जीता जला देना, विधवा होने पर उसका सिर मुंडा देना, पैदा होते ही लड़की की शादी कर देना, शिक्षा के अधिकार से उसे वंचित रखना—यही-सब तो इस देश की रूढ़ियाँ, कुप्रथाएँ तथा अन्धविश्वास थे। सुधार का मतलब है स्त्री की समस्याओं से जूझना और उन्हें हल करना। इसका परिणाम यह हुआ कि देश को सुदृढ़ तथा सशक्त बनाने के लिए पिछली

सदी के हमारे सब समाज-सुधारक, जैसे मकान को पक्का बनाने के लिए नींव को दृढ़ बनाया जाता है, वैसे समाज के भवन की नींव को पक्का बनाने के लिए स्त्री की समस्याओं को हल करने में जुट गए, क्योंकि उन्हें यह स्पष्ट दीखने लगा कि देश की सब समस्याओं की आधारभूत समस्या स्त्री की समस्या है।

ऋषि दयानन्द ने पंजाब, उत्तर-प्रदेश तथा मध्यभारत में जो प्रचार किया उसका परिणाम यह हुआ कि जगह-जगह कन्या-पाठशालाएँ खुल गईं, पर्दे का बन्धन टूट गया, और बाल-विवाह के विरुद्ध आवाज़ उठ खड़ी हुई। बंगाल में राजा राममोहन राय के निरन्तर प्रयत्नों से सती-प्रथा पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के उद्योग से विधवा-विवाह को कानून का आश्रय मिला। इसी प्रकार बम्बई तथा महाराष्ट्र में रानाडे के प्रयत्नों से स्त्री की स्थिति में सुधार हुआ।

समाज-सुधारकों के इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि स्त्री की स्थिति सुधरने के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज की स्थिति सुधरने लगी, परन्तु अभी तक यह प्रयत्न प्रचार के क्षेत्र तक ही सीमित रहा।

४. वर्तमान राजनीतिक-युग

वर्तमान-युग में जब देश स्वतन्त्र हो गया और राजनीतिक सत्ता अपने हाथ में आई, तो इस बात को अनुभव किया जाने लगा कि जिन सामाजिक सुधारों के अभाव में देश पछड़ा हुआ है, वे केवल सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के बस के नहीं हैं, राष्ट्र को भी कानून द्वारा उनमें दखल देना होगा। देश के राजनीतिक नेता यह देख रहे हैं कि सामाजिक सुधारकों ने क्षेत्र तो तैयार कर

दिया है, जनता में इन सुधारों की माँग भी है, किन्तु बहुत-सा सुधार इस सम्बन्ध में इसलिए रुका पड़ा है, क्योंकि कानून इस सम्बन्ध में चुप है। इस अनुभूति का परिणाम यह है कि आज कानून धीरे-धीरे सामाजिक सुधार के क्षेत्र में पग बढ़ाने लगा है। सामाजिक चेतना और राजनीतिक चेतना—इन दोनों के सम्मिश्रण से आज देश का वातावरण बतलता जा रहा है। अब से पहले जब अंग्रेज़ों का राज था, तब विदेशी हुकूमत हरेक सामाजिक सुधार में रोड़ा अटकाती थी। इस विरोध का कारण यह था कि विदेशी हुकूमत इस बात को समझती थी कि जितनी सामाजिक जागृति उत्पन्न होगी, उतनी राजनैतिक जागृति भी उत्पन्न हो जायेगी। उन्होंने हमारे विचार के लिए दो पृथक्-पृथक् क्षेत्र बना दिये थे—एक सामाजिक क्षेत्र और दूसरा राजनीतिक क्षेत्र—और उन्होंने हमें पढ़ा दिया था कि इन दोनों क्षेत्रों का कोई मेल नहीं हो सकता। परन्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, सामाजिक कुरीतियों का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में भी पड़ता है, और इन कुरीतियों के कारण देश राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़ने से रुक जाता है। अंग्रेज़ों के ज़माने की बात दूसरी है, उनका तो उद्देश्य ही देश को आगे बढ़ने से रोकना था, परन्तु आज देश के नेता कैसे बरदाश्त कर सकते हैं कि स्त्रियों के पछड़े होने के कारण सारे-का-सारा देश ही अन्य देशों की तुलना में पछड़ा पड़ा रहे। यही कारण है कि जिन सुधारों की तरफ़ अब सिर्फ़ सामाजिक नेता हमारा ध्यान आकर्षित करते रहे, उन सुधारों की तरफ़ अब राजनैतिक नेता भी हमारा ध्यान खींच रहे हैं। यह अपने देश के लिए और ख़ास कर स्त्री-समाज के लिए शुभ लक्षण है कि आज देश के राजनीतिक नेताओं का ध्यान स्त्री की समस्याओं को हल करने में वैसे ही लगा हुआ

है जैसे वह अन्य समस्याओं को हल करने की ओर लगा हुआ है।

५. राजनीति और सामाजिक सुधार

आजकल कट्टर-पन्थियों की ओर से एक नारा सुनाई देता है कि धर्म के क्षेत्र में राजनीति को दखल नहीं देना चाहिए। इस नारे को लगाने वाले यह नहीं समझते कि धर्म क्या है। 'धर्म' से उनका मतलब शुद्ध धर्म से नहीं होता, उनका मतलब होता है उन दकियानूसी बातों से जो धर्म के नाम पर अब तक हमारे समाज के मस्तक पर कलंक के टीके के रूप में चली आ रही हैं। कोई समय था, जब कि विधवा स्त्री को जीते-जी आग में जला देना धर्म समझा जाता था, दुधमुंही बच्ची को ब्याह देना धर्म माना जाता था, स्त्री को पर्दे के पीछे क़ैद रखना धर्म समझा जाता था, स्त्री को अपढ़ रखना धर्म समझा जाता था, एक पुरुष अनेक स्त्रियों से धर्म के नाम पर शादी करता जाता था, स्त्री का सम्पत्ति में किसी प्रकार का अधिकार न होना धर्म समझा जाता था। परन्तु क्या यह सब-कुछ धर्म है? धर्म तो किसी बड़ी चीज़ का नाम है। धर्म किसी के विकास में बाधा नहीं डाल सकता, शास्त्रों का कथन है—'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः'—जिससे कोई उठे, जिससे किसी का कल्याण हो, वह धर्म है। अस्ल में यह-सब धर्म नहीं, परन्तु पुरुष-समाज के बनाये इक-तरफ़ा कानून हैं और कानूनों का कानूनों से ही प्रतिकार किया जा सकता है। मैं इस बात को स्वीकार करती हूँ कि धर्म तथा राज-नीति का अपना जुदा-जुदा क्षेत्र है, परन्तु जिन बातों को हम धर्म कह कर राजनीति या कानून की चोट से बचाना चाहते हैं वे किसी प्रकार भी धर्म के क्षेत्र में नहीं आतीं। वे सब सामा-

जिक बातें ह। और जैसे पहले कहा जा चुका है, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में परस्पर ऐसा अटूट सम्बन्ध है कि एक का दूसरे पर असर पड़े बिना रह नहीं सकता।

६. वर्तमान सुधार

जिस विचार-धारा का मैंने अभी वर्णन किया उसका अवश्यम्भावी परिणाम है कि देश के राजनैतिक नेता जिन सामाजिक रूढ़ियों को देश की प्रगति में रुकावट के रूप में देखेंगे उन पर चोट अवश्य करेंगे। उन पर चोट न की जायेगी तो देश के पाँव में पड़ी बेड़ियाँ कैसे टूटेंगी। इस दृष्टि से हमारी राष्ट्रीय विधान-सभाओं में स्त्री की हीन स्थिति को बदलने के लिए कुछ सुधार किये गए हैं और कुछ किये जाने वाले हैं जिनकी इस प्रकरण में चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा।

'संविधान' में जो अधिकार स्त्रियों को दिया गया है वह है 'मतदान का अधिकार'। आज हमारे 'संविधान' में स्त्री तथा पुरुष को मत देने का एक-समान अधिकार प्राप्त हो गया है। अन्य देशों में पुरुष के समान मताधिकार प्राप्त करने के लिए स्त्री को बड़ी जद्दोजहद में से गुज़रना पड़ा है। स्त्रियाँ जेल तक गई हैं, सिर फूटे हैं, ख़ून बहा है। आज हमारे 'संविधान' ने स्त्री तथा पुरुष को मतदान की दृष्टि से एक स्तर पर लाकर सामाजिक शरीर के विकास की उस भारी क्षति को दूर कर दिया है जिसके कारण हमारा समाज आगे नहीं बढ़ सकता था। आज मतदान के अधिकार को प्राप्त कर लेने का यह परिणाम है कि स्त्रियाँ लोक-सभा, राज्य-सभा तथा प्रान्तों की विधान-सभाओं में सदस्या होकर कानूनों का निर्माण करने लगी हैं और उनकी स्थिति में परिवर्तन होने लगा है।

इस समय तक स्त्री की दृष्टि से जो सामाजिक सुधार हो चुके हैं उनमें से पहला सुधार तो यह है कि अब तक सदियों से चली आ रही बहु-विवाह-प्रथा को समाप्त कर दिया गया है। पुरुष स्त्री को गाय-भैंस की तरह बाँध रखता था, जितनी स्त्रियां चाहता, एक पत्नी के रहते ब्याह सकता था—यह हमारे समाज के लिए कितनी लज्जा की बात थी। आज यह कलंक हमारे समाज से धुल गया। दूसरा सुधार यह हुआ कि पुरुष तो अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़ कर जब चाहे दूसरी स्त्री से शादी कर सकता था, परन्तु स्त्री के लिए परित्यक्त होने पर उसी के सहारे बैठे रहने के सिवाय दूसरा कोई चारा न था। अब स्त्री के इस अपमानित जीवन ने पलटा खाया है। विशेष अवस्थाओं में स्त्री को भी सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार दे दिया गया है। यह तो समान अधिकारों का प्रश्न है। मानवता के नाते यह किसे समझ आ सकता है कि जो अधिकार पुरुष को प्राप्त हों, अगर वे ठीक हैं, तो वे अधिकार स्त्री को भी प्राप्त क्यों न हों? पुरुष के लिए अधिकारों तथा स्त्री के लिए कर्त्तव्यों का बँटवारा कर देना सामाजिक न्याय नहीं है।

जैसे कुछ सामाजिक-सुधार-सम्बन्धी-कानून विधान-सभाओं में स्वीकृत हो चुके हैं वैसे ही कुछ इस समय विचाराधीन हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त-परिवार-प्रथा जैसी चल रही है ऐसी ही रहनी चाहिये या इसे बदलना चाहिये, गोद लेने के क्या नियम हों—ये सब बातें तय की जा रही हैं, और हम लोग जो विधान-सभाओं की सदस्यायें हैं स्त्री की दृष्टि से इन सुधारों को अन्त तक पहुंचाने में पूरा प्रयत्न कर रही हैं और पूरी आशा है कि देर म अबेर में ये सब सुधार होकर रहेंगे।

७. स्त्रियों का कर्त्तव्य

जिन सुधारों की तरफ़ अभी निर्देश किया गया, उनके हुए वगैर स्त्रियों का कल्याण नहीं। परन्तु सब से बड़ी कठिनाई यह है कि पुरुषों को समझाना तो आसान है, स्त्रियों को समझाना कठिन बात है। सदियों तक सामाजिक क़ैद में पड़े रहने के कारण स्त्री-समाज अपनी क़ैद की अवस्था को स्वाभाविक समझने लगा है। हर वस्तु उनके दिमाग में धर्म बनकर बैठी हुइ है, इसलिए आज स्त्रियों के अधिकारों की सब से बड़ी शत्रु स्त्रियाँ ही बनी हुई हैं। स्त्रियों के सुधार के सम्बन्ध में हमारे सामने जो यह विषम परिस्थिति है, उसे दूर करने के लिए कुछ बातों की तरफ़ ध्यान देना आवश्यक है, जो निम्न हैं :—

(क) हमारी बहिन अशिक्षा के कारण अपने भले-बुरे को स्वयं नहीं समझतीं। जिसने जैसा समझा दिया उन्होंने वैसा मान लिया। लोगों ने कहा—अधिकार प्राप्त करना स्त्रियों का काम नहीं, स्त्रियाँ अधिकार प्राप्त करने से बिगड़ जायेंगी—हमारी बहिनें बिना समझे-बूझे यही राग अलापने लगीं। हिन्दू कोड का विरोध बहुत-सी स्त्रियाँ पुरुषों के प्रभाव में आकर ही करती रही हैं। आज शिक्षा तो स्त्रियों में तेज़ी से फैल रही है, किन्तु सबसे बड़ी ज़रूरत इस बात की है कि अपनी समस्याओं की जानकारी वे स्वयं प्राप्त करें, अपनी समस्याओं को समस्या के रूप में समझें और अपनी दृष्टि से उन पर विचार करना और हल करना सीखें। अपनी समस्याओं को हल करने के लिए दूसरों का मुँह ताकने से कैसे काम चलेगा। जो समाज अपने भाग्य का निर्णय दूसरे पर छोड़ बैठता है, जो अपने भविष्य की ओर से उदासीन और बेसुध हो जाता है,

वह तरक्की कैसे कर सकता है ? आज बीसवीं सदी में जब हर-कोई आगे बढ़ रहा है, देश के हर कोने में जीवन के अंकुर फूटते नज़र आ रहे हैं, तब स्त्री-समाज का पछड़े रहना क्या अखरने वाली बात नहीं है ? पढ़ी-लिखी तथा बेपढ़ी-लिखी सभी बहिनों को अपनी समस्याओं को अपने हाथ में लेना होगा और अपने-अपने मुहल्लों में अपने संगठित समाज स्थापित करके स्त्री-जाति की समस्याओं को स्वयं हल करना होगा।

(ख) एक बड़ी भ्रान्त-धारणा, एक ज़बर्दस्त गलतफ़हमी जो स्त्री-समाज में घर किये हुए है, वह यह है कि स्त्रियों का काम केवल अपने घर को सम्भालना है, समाज से, देश से स्त्री-जाति का कोई सरोकार नहीं। यह गलत धारणा आज हमारी अवनति का सबसे बड़ा कारण बनी हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि बच्चे, पति तथा घर—इनके प्रति स्त्री की मुख्य ज़िम्मेदारी है, किन्तु घर को सुचारु रूप से चलाने, बच्चों को देश के उत्तम नागरिक बनाने तथा आदर्श पत्नी बनने के लिए भी, देश, समाज तथा जाति के प्रश्नों से टक्कर लेना आवश्यक है। समाज की आवश्यकताओं, आकाँक्षाओं तथा आदर्शों को समझे बिना स्त्री आदर्श माता तथा सफल पत्नी कदापि नहीं बन सकती। इसलिए यह स्पष्ट है कि जब तक स्त्रियों की दुनियाँ उनकी घर की चहारदीवारी तक ही सीमित रहेगी, तब तक वे घर की समस्याओं को भी सफलता-पूर्वक नहीं हल कर सकेंगी। स्त्री को यदि और किसी कारण से नहीं, तो केवल अपने बच्चों को उच्च-कोटि का व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए ही देश की समस्याओं की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। इतना ही नहीं, मेरा विचार तो यह है कि प्रत्येक स्त्री को अपने २४ घंटों में से १ घंटा अवश्य देश-सेवा के लिए निकाल रखना

चाहिए ताकि वह अपने घर के बन्द तथा घुटे हुए वातावरण में समाज-सेवा की शुद्ध तथा प्राणप्रद वायु का संचार कर सके।

(ग) घर के प्रति स्त्री की ज़िम्मेदारी है—इस बात को स्वीकार कर लेने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि देश के प्रति भी हमारी सीधी ज़िम्मेदारी है। घर की ज़िम्मेदारी को निभाने के लिए हमें देश के प्रति ज़िम्मेदारी को निभाना होगा—यह तो एक बात है, परन्तु मैं तो यह कहना चाहती हूँ कि घर की ज़िम्मेदारी से स्वतंत्र रूप में भी हमारी देश के प्रति ज़िम्मेदारी है—इस बात को हमें समझना है। आज़ादी पा लेने के बाद से तो हमारी यह ज़िम्मेदारी और भी बढ़ गई है। आज स्त्री को संविधान में पुरुष के समान स्थान मिला है, उसे नई स्थिति प्राप्त हुई है, नए अधिकार मिले हैं। ऐसी हालत में स्त्री की ज़िम्मेदारी पहले से बहुत ज़्यादा बढ़ जाती है। आज अपने देश के नव-निर्माण का जो पवित्र यज्ञ चल रहा है, चारों तरफ़ देश की उन्नति के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बन रही हैं, एक नए समाजवादी ढांचे के समाज के निर्माण का नक्शा हमारे सामने खिच रहा है—इस सब में हाथ बंटाना हमारा कर्तव्य है, इसलिए नहीं कि इस नव-निर्माण से हमारी अपने घर के प्रति ज़िम्मेदारी पूरी होगी, परन्तु इसलिए क्योंकि इस प्रकार हम अपने देश, समाज तथा जाति के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करेंगे। हम देश के अनेकों कामों म, अनेकों तरह से सहयोग दे सकती हैं। सब से बड़ा सहयोग देश के वातावरण को बदलने में देना होगा। आज जीवन के हर क्षेत्र में, हर विभाग में भ्रष्टाचार, झूठ, धोखा, फ़रेब चल रहा है। समाज का वातावरण अनैतिकता, स्वार्थ, असत्य तथा हिंसा से भरपूर है। स्त्रियाँ देश के इस अनैतिक वातावरण को बदलने में बहुत बड़ा

भाग ले सकती हैं। अगर हम घर में आये ऐसे पैसे को हाथ लगाने से इन्कार कर दें, जो रिश्वत से, गरीबों का गला घोट कर, चोर-बाज़ारी से या किसी भी अनैतिक प्रकार से पैदा किया गया है, तो समाज की जड़ों को खोखला करने वाले ये रोग आप-से-आप शान्त हो जाँय। आज हमारा समाज स्वार्थ-लोलुपता की दल-दल में फँसा हुआ बीसियों तरह के सामाजिक अपराधों का शिकार हो रहा है। स्त्री-समाज का अगर प्रकार की मनोवृत्ति इस से असहयोग हो जाये, तो हमारी यह समस्या अपने-आप हल हो सकती है।

८. उपसंहार

स्त्री-जाति पर वर्तमान स्वतंत्रता के युग में नवीन अधिकारों के प्राप्त होने पर जो नवीन उत्तरदायित्व आ पड़ा है उसका वर्णन मैंने किया। अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए इस नवीन-युग म राष्ट्रीय चेतना का दीपक हमने अपने अन्तर में जगाना है। यह विशाल देश हमारा अपना देश है। देश के भाग्य के साथ हमारा भाग्य बंधा है। देश उठता है, तो हम उठते हैं, देश गिरता है, तो हम गिरते हैं। पुरुषों के साथ समान स्थिति पाने के बाद स्त्रियों की देश के प्रति वैसी ही ज़िम्मेदारी है, जैसी पुरुषों की। स्त्रियों की संख्या देश में आधी के लगभग ह। अगर आज से हम अपना दृष्टिकोण बदल दें, अपने को अबला समझना छोड़ कर सबला समझने लगें, तो देश का नक्शा तो सिर्फ़ स्त्रियाँ ही बदल सकती हैं। हमें अपने भीतर की हीनता की भावना को समाप्त करना है। दूसरे तो हमें अबला कहते ही हैं—हम ख़ुद भी अपने को अबला कहती हैं—यह हमारी बड़ी कमज़ोरी है, इसे हमें दूर करना है। इसे दूर कर के ही हम

देश की समस्याओं को हल करने में पूरा सहयोग दे सकती हैं।

आज देश का विस्तृत कार्य-क्षेत्र हमारे सामने खुला पड़ा है। हम नहरें नहीं खोद सकतीं, बाँध नहीं बना सकतीं, किन्तु देश का नव-निर्माण करने के लिए समाज के वातावरण का बदलना, समाज में स्वावलम्बन की भावना का आना, नैतिकता के भावों का जगाना, मनुष्य का साथी मनुष्य को अपने समान समझना, गीता के शब्दों में—'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः'—ये सब नहरों और बाँधों की अपेक्षा भी अधिक आवश्यक काम हैं। आज यह क्षेत्र सूना पड़ा है। समाज-सेवा के इस क्षेत्र में काम करने वालों की आवश्यकता है, और अनुभव ने सिद्ध किया है कि स्त्रियाँ इस क्षेत्र में काम करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। 'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'—मुझे राज्य की कामना नहीं, स्वर्ग की कामना नहीं, मोक्ष की कामना नहीं, मेरी एकमात्र कामना सिर्फ़ दुःखी प्राणियों की सेवा करना है—हमारे ऋषि-मुनियों की यह भावना आज हमारे जीवन की साध बन जानी चाहिए। हम आध्यात्मिकता का नाम लेते हैं, परन्तु अस्ली आध्यात्मिकता हर-एक प्राणी को अपने जैसा समझने में है। इसी दृष्टिकोण में हृदय की विशालता और जीवन की सार्थकता है। स्त्री के अन्दर इस प्रकार का दृष्टिकोण उत्पन्न होने की महान् क्षमता है। हृदय उसका वास्तविक क्षेत्र है, और हृदय की अनुभूति से ही समाज-सेवा के लिए मनुष्य का कदम बढ़ता है। इस भावना को अपने भीतर जाग्रत कर हमें भारत के ऋषि-मुनियों की —'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्'—सब सुखी हों, सब नीरोग

हों, सब का कल्याण हो, किसी को कोई कष्ट न हो—इस घोषणा को जीवन का लक्ष्य बनाना होगा और समाज-कल्याण के क्षेत्र के लिए अपने को समर्पित कर देना होगा, तभी स्त्री-जाति को मिले आज के अधिकार सार्थक होंगे, और तभी हम देश तथा जाति की सेवा में किसी से पीछे न रहकर अपना तथा देश का मस्तक ऊँचा कर सकेंगे।

११

विवाह तथा तलाक़ पर स्त्रियों का दृष्टि-कोण

विवाह तथा तलाक़ पर हमारे समाज में पुरुषों के दृष्टिकोण से बहुत-कुछ कहा तथा लिखा जा चुका है। बनारस के 'वर्णाश्रम संघ' ने इस विषय में बहुत आन्दोलन किया था। परन्तु इन सब आन्दोलनों में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। ये सब आन्दोलन पुरुषों की तरफ़ से उठाए जाते हैं। स्त्रियों की तरफ़ से अगर कुछ हुआ है, तो विवाह तथा तलाक़ सम्बन्धी सुधारों का स्वागत ही हुआ है। अखिल-भारतीय-महिला-कान्फ्रेंस की हर बठक में इस बात की शिकायत की जाती रही है कि ये सब सुधार शीघ्र-से-शीघ्र पास होने चाहिएँ। जितनी ही इन सुधारों के पास करने में देर की जा रही है, उतनी ही देर तक स्त्रियों को अपने अधिकारों से वंचित किया जाता रहा है।

इसका यह अभिप्राय स्पष्ट है कि विवाह तथा तलाक संबन्धी सुधारों के विषय में पुरुषों तथा स्त्रियों के दृष्टिकोण में ज़मीन-आस्मान का अन्तर है। पुरुषों में सब तो नहीं, परन्तु कट्टर-पन्थी हिन्दू इन सुधारों का विरोध करते रहे हैं। उनका कहना था कि इन सुधारों से हिन्दू-धर्म की जड़ें हिल जाएंगी। वे कहते थे कि इन सुधारों की माँग सिर्फ़ कुछ इनी-गिनी, पढ़ी-लिखी, पाश्चात्य-सभ्यता के रंग में रंगी हुई स्त्रियों की तरफ़ से रही है, भारत का स्त्री-समाज इन सुधारों के पक्ष में नहीं है। ऐसी अवस्था में यह देखना आवश्यक हो जाता है कि क्या सचमुच इन

सुधारों से हिन्दू-धर्म नष्ट हो जाएगा, और अगर नहीं, तो इस सम्बन्ध में पुरुषों का जो दृष्टिकोण है सो तो है ही, स्त्रियों का इस सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है—पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ ही नहीं, सभी हिन्दू स्त्रियाँ इन सुधारों के सम्बन्ध में क्या सोचती हैं ?

हिन्दू-धर्म ख़तरे में

विवाह तथा तलाक़ संबंधी जो कानूनी-सुधार हुए हैं उनमें मुख्य चार बातें हैं–(क) एक विवाह, (ख) प्रौढ़ आयु में विवाह, (ग) अन्तर्जातीय विवाह तथा (घ) तलाक़। अब तक पुरुष तो जितनी स्त्रियों से चाहे विवाह कर सकता था, स्त्री एक ही पुरुष से विवाह कर सकती थी। इस सुधार में स्त्री की तरह पुरुष के लिए भी नियम बना दिया गया है कि वह भी एक ही पत्नी से विवाह कर सके, अनेक पत्नियों से नहीं। अबतक विवाह की जो आयु निर्धारित थी उसे इस सुधार में कुछ ऊँचा कर दिया गया है। कन्या की आयु १५ वर्ष तथा वर की आयु १८ वर्ष विवाह के लिए कम-से-कम मान ली गई है। अबतक ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि आपस में विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकते थे, अब जाति-बन्धन तोड़ कर शादी करना आवश्यक तो नहीं बना दिया गया, परन्तु जो इन बन्धनों को तोड़कर शादी कर लें उनकी शादी को वैध मान लिया गया है। अबतक शादी होने के बाद पुरुष तो स्त्री को बिना किसी कारण के घर से निकाल सकता था, परन्तु स्त्री को पुरुष के दुराचारी, व्यभिचारी, अपंग, कोढ़ी, असाध्य रोगी तथा सर्वथा लापता हो जाने पर भी उसीको देवता मानकर उसकी पूजा करनी होती थी, अब इस सुधार में किन्हीं ख़ास-ख़ास अवस्थाओं में दोनों को एक-दूसरे को तलाक़ देने का अधिकार दे दिया गया है।

(क) कट्टरपन्थी लोग कहते हैं कि अनेक स्त्रियों से विवाह करना हिन्दू-धर्म का आधारभूत सिद्धांत है। कभी कहा जाता था कि विधवा के लिए सती हो जाना हिन्दू-धर्म का आधारभूत सिद्धांत है। हर गाँव के बाहर सती की समाधि होती थी। लार्ड बैंटिक ने विधवाओं को जीते-जी जला देने की अमानुषीय प्रथा को कानूनन रोक दिया। कट्टरपन्थी पहले शोर मचाते थे कि इससे हिन्दू-धर्म ख़तरे में पड़ जाएगा, फिर कहने लगे कि इससे भयंकर विद्रोह उठ खड़ा होगा। कानून बना, विधवाओं को जीते-जी जला दिया जाना गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया, परन्तु न विद्रोह हुआ, न हिन्दू-धर्म ही ख़तरे में पड़ा। वह धर्म नहीं, अधर्म है जिसमें मनुष्य मनुष्य पर अत्याचार करता है। हिन्दू-धर्म तो एक इतना प्रगतिशील धर्म है जो समय के साथ सदा बदलता रहा है। अन्य धर्मों के मुक़ाबिले में हिन्दू-धर्म में अगर कोई विशेषता है, तो यह कि जहाँ अन्य धर्म अपने को परिस्थितियों के अनुसार बदलना नहीं जानते, वहाँ हिन्दू-धर्म झट अपने को बदल लेता है। कहते हैं, स्मृतियाँ १८ हैं, और सब एक-दूसरे से भिन्न बात कहती हैं। ऐसा क्यों है? ऐसा इसीलिए है क्योंकि प्रत्येक स्मृति भिन्न-भिन्न समय में बनी है। समय को देखकर स्मृतिकार ने नई प्रथा, नए नियम, नए विधान को जन्म दिया, और हिन्दू-धर्म ने तुरन्त उसे स्वीकार कर लिया। आज के प्रगतिशील समय में कौन इस बात को स्वीकार कर सकता है कि पुरुष अनेक स्त्रियों से शादी करें? ऐसी अवस्था में हिन्दू-धर्म का ही तकाज़ा है कि इस प्रथा को बन्द किया जाए।

(ख) प्रौढ़-आयु में विवाह तो अपने-आप हो चला है। हरेक माँ-बाप अपनी लड़की को पढ़ाना चाहता है, कोई छोटी

आयु में अपने लड़के-लड़की की शादी नहीं करना चाहता। ऐसी अवस्था में यह कहना कि विवाह की आयु बढ़ जाने से हिन्दू-धर्म को ख़तरा पैदा हो जाएगा एक बेमायनी बात है।

(ग) इस सुधार में अन्तर्जातीय विवाह को वैध मान लिया गया है। परन्तु इससे हिन्दू-धर्म का क्या बिगड़ता है? जो हिन्दू जाति को नहीं तोड़ना चाहता वह न तोड़े, उसे कौन जाति तोड़ने के लिए मजबूर करता है? परन्तु जो जाति तोड़कर शादी करता है, उसने कौन गुनाह किया है कि उसके विवाह को अवैध घोषित किया जाए। अगर कोई जाति तोड़कर शादी करने पर भी अपने को हिन्दू कहलाना चाहता है, तो उसे क्यों हिन्दू न कहा जाए? आर्यसमाजी, ब्राह्मसमाजी—सब हिन्दू हैं, वे जात-पाँत को नहीं मानते। शास्त्रों में लिखा है कि वर्ण-व्यवस्था जन्म से नहीं होती, कर्म से होती है—यह सब हिन्दू शास्त्रों में लिखा है। ऐसा होते हुए इस सुधार से हिन्दू-धर्म को क्या ख़तरा पैदा हो जाता है?

(घ) चौथी बात रह जाती है—तलाक़। 'वर्णाश्रम स्व-राज्य संघ' ने संसद् की संयुक्त-समिति के विचारार्थ जो आवेदन-पत्र तैयार किया था उसमें उन्होंने स्वयं लिखा था कि हिन्दू-धर्म में अनेक वर्गों में तलाक की छूट है। उदाहरणार्थ, मलाबार में पति-पत्नी में से कोई भी एक, बिना अदालत में गए, एक-दूसरे की रज़ामन्दी से तलाक़ दे सकता है। कई हिन्दू जातियों में उपयुक्त कारणों की मौजूदगी में पंचायत तलाक की स्वीकृति दे देती है। कई हिन्दू जातियों में अगर पति अपनी पत्नी का भरण-पोषण नहीं कर सकता, और उसे छोड़ देता है, तो वह दूसरी शादी कर सकती है। कइयों में पति अपनी पत्नी को 'छोड़ चिट्ठी' दे देता ह, और इस 'छोड़ चिट्ठी" को पाने के बाद पत्नी

दूसरी शादी कर सकती है। कइयों में पत्नी पति को मुआवज़ा देकर छुट्टी पा जाती है। हिन्दू-धर्म की ही पाराशर स्मृति में लिखा है—पति के लापता होने, मर जाने, संन्यासी हो जाने, नपुंसक और पतित होने पर उसका दूसरा विवाह हो सकता है। हिन्दू-धर्म के जो संस्थापक थे उनका तो यह कहना है, परन्तु आज हिन्दू-धर्म का जो ठेका लेकर उठ खड़े हुए हैं वे अपना एक नया ही नारा लिए फिरते हैं।

स्त्रियों का दृष्टि-कोण

इस सुधार का सबसे भारी असर समाज के अत्यावश्यक अंग—स्त्रियों पर ही होनेवाला है। आज जब कि हम चारों दिशाओं में उन्नति कर रहे हैं, आर्थिक और राजनीतिक, तब क्या यह संभव है कि सामाजिक-क्षेत्र में हम वैसी ही बैलगाड़ी की चाल से चलते रहें? जब तक स्त्रियों को राजनीतिक-अधिकार नहीं थे, जब तक स्त्रियों का आर्थिक-जीवन में पुरुष के सिवाय कोई सहारा नहीं था, तब तक एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियों का विवाहा जाना, पुरुष के दुराचारी, व्यभिचारी, क्रूर, नृशंस—सब-कुछ होते हुए भी उसी के साथ बंधे रहना समझ में आ सकता था। आज राजनीतिक-अधिकार प्राप्त करके, आर्थिक-क्षेत्र में अपने पाँवों पर खड़ी नारी यह अव्यवस्था कैसे बर्दाश्त कर सकती है? देश की चतुर्दिक् प्रगति के परिणामस्वरूप सामाजिक-क्षेत्र में हलचल मचना अवश्यंभावी है। यह कहना कि यह शोर केवल पढ़ी-लिखी स्त्रियों की तरफ़ से ही है, निस्सार है। पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ ही तो शोर करेंगी। अब तक जिस स्त्री को पुरुष-समाज ने पैर की जूती समझा, क्या वह आज एकदम उठ खड़ी हो, और एकदम अपनी स्थिति के सुधार की आवाज़

बुलन्द कर दे ? स्त्रियाँ जो पढ़-लिख गई हैं, वे ही तो स्त्री-समाज का नेतृत्व करेंगी, वे ही तो आवाज़ उठाएंगी, दूसरा कौन उठाएगा ?

जो बात हमारे कट्टरपन्थी भाइयों को तंग कर रही है वह 'तलाक़' की बात है। परन्तु 'तलाक़' के विषय में बहुत गलत-फ़हमी है। लोग समझते हैं कि इस सुधार के पास होते ही तलाक़ शुरू हो जाएंगे। ऐसी बात नहीं है। तलाक़ की बड़ी कड़ी शर्तें हैं। तलाक़ तब हो सकेगा जब यह सिद्ध हो जाए कि पुरुष की कोई रखैल है, या स्त्री व्यभिचारिणी है। ऐसी हालत में तलाक़ क्यों न हो ? तलाक़ तब भी हो सकेगा अगर दोनों में से कोई एक धर्म-परिवर्तन कर ले। धर्म-परिवर्तन के बाद वे एक-दूसरे से झगड़ते रहें, यह कौन चाहेगा। असाध्य पागलपन में तलाक़ की इजाज़त है। ऐसी हालत में भी पति-पत्नी को एक-दूसरे के साथ बाँधे रखना उनपर अत्याचार करना है। असाध्य कुष्ठ रोग होने पर भी तलाक़ की इजाज़त होगी। अगर लगातार सात साल तक दोनों में से कोई लापता रहे तब भी तलाक़ हो सकेगा। क्रूरता आदि की अवस्था में तलाक़ का नियम नहीं है। अगर पति क्रूर है, तो वे एक-दूसरे से वैधानिक अलहदगी करा सकते हैं, परन्तु बीच में इनका समझौता भी हो सकता है। असल में देखा जाए तो अभी जो-कुछ सुधार हुआ है वह स्त्रियों के दृष्टिकोण से अत्यन्त धीमी चाल है। स्त्रियों को आश्चर्य इस बात पर है कि इस साधारण-से सुधार पर भी कट्टरपन्थी भाइयों को आपत्ति है। हाँ, यह अवश्य कहा जाता है कि क्योंकि तलाक़ का अधिकार पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों को दिया गया है, ऐसी अवस्था में यह संभव है कि पुरुष इस अधिकार का दुरुपयोग करें, और इस कानून से स्त्रियों को लाभ पहुँचने

के स्थान में और नुकसान पहुँच जाए। इस कथन में बहुत-कुछ सचाई है। स्त्रियों की हमारे समाज में ऐसी अवस्था है कि उनसे उन्हीं के विरुद्ध जो-कुछ न करा लिया जाए वह थोड़ा है। इस स्थिति की रोक-थाम के लिए यह आवश्यक जान पड़ता है कि पहले पाँच वर्ष तक 'तलाक़' का अधिकार सिर्फ़ स्त्रियों को दिया जाता, पुरुषों को नहीं। स्त्री तलाक़ का दरवाजा तभी घटखटाएगी जब उसको जीवन में आशा के दीप की कोई भी किरण दीखती नज़र न आएगी। आज हमारे समाज में स्त्री की जो स्थिति है उसमें स्त्री तो इस अधिकार का दुरुपयोग नहीं कर सकती, पुरुष कर सकता है। पुरुष क्योंकि अपने अधिकारों का दुरुपयोग सदियों से करता चला आ रहा है इसलिए स्त्री की दृष्टि यह है कि दोनों को कोई से भी समान अधिकार दिए जाएं, इससे पहले इस बात का निश्चय कर लेना आवश्यक है कि उस अधिकार से पुरुष उसका अनुचित लाभ तो नहीं उठाएगा ?

१२

उच्छृङ्खल भारतीय नारी

क्या आज की भारतीय-नारी ठीक रास्ते पर जा रही है, या पथ-भ्रष्ट होकर उच्छृंखल होती जा रही है? यह प्रश्न आज देश के एक कोने से नहीं, बल्कि कोने-कोने से सुनाई दे रहा है। इस प्रश्न की गूँज से आज देश का सम्पूर्ण वातावरण भर गया है। यह प्रश्न क्यों सुनाई देता है? यह इसलिए सुनाई देता है क्योंकि आज कनाट-प्लेस में जब कोई लड़का और लड़की साथ-साथ जा रहे होते हैं तब उनकी वेश-भूषा, हाव-भाव और चाल-ढाल से यह कहना कठिन हो जाता है कि वे भाई-बहन हैं, पति-पत्नी हैं, पिता-पुत्री हैं या मेल-मुलाकाती हैं। यह इसलिए सुनाई देता है क्योंकि भारत की वह नारी जिसके लिए इतिहास मूक भाव से खड़ा इसलिए आँसू बहा रहा है कि वह पति के मर जाने पर धधकती चिता पर आग की लपटों में जा बैठती थी, आज इस सोच में पड़ गई है कि वह सदियों से जो-कुछ करती चली आ रही थी वह ठीक था या नहीं? यह प्रश्न आज भारत के नभो-मंडल में इसलिए भी व्याप्त हो रहा है, क्योंकि भारत की जागृत नारी, जो विधान-सभाओं में पहुँचकर अपनी आवाज़ देश के कोने-कोने तक पहुँचा सकती है, आज डंके की चोट कह रही है कि अब तक उसे मनुष्य होते हुए भी मनुष्य नहीं समझा गया, पैर की जूती समझा गया, शूद्र, गंवार और ढोल के तुल्य समझा गया, अपने लिए

पुरुष ने एक कानून बनाया, तो स्त्री के लिए दूसरा बनाया। अब वह इस ज़्यादती को न होने देगी, परमात्मा ने उसे पुरुष के बराबर ही सब प्रकार की योग्यता दी है, वह हर प्रकार की योग्यता प्राप्त करेगी, अधिकारों के द्वन्द्व में पुरुष से किसी प्रकार पीछे न रहेगी, पुरुष के लिए एक और स्त्री के लिए किसी दूसरे कानून की बेहूदगी को दूर करके रहेगी, मानव-समाज में पुरुष तथा स्त्री को समान स्तर पर लाकर खड़ा करेगी। ये ही सब बातें हैं, जिनको देखकर आज यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या आज की भारतीय नारी उच्छृंखल होती जा रही है या ठीक रास्ते पर जा रही है ?

परन्तु हमें सोचना होगा कि अभी हमने जिन रास्तों पर भारतीय नारी को जाते दखा उनमें कौन-से सही हैं और कौन-से ग़लत ? भारतीय नारी आज दो रास्तों पर जा रही है--

(क) पहला रास्ता सब बन्धनों को तोड़कर ऐसा रास्ता है जिसे हमने कनाट-प्लेस का रास्ता कहा, और

(ख) दूसरा रास्ता वह है जिस र चलकर वह अब तक के बने कानूनों में अन्तर्निहित अन्याय को बदलना चाहती है--समाज का वह अन्याय जिसने पुरुष तथा स्त्री के लिए भिन्न-भिन्न कानून बनाए हैं। आज की स्त्री का वह रास्ता कनाट-प्लेस का रास्ता नहीं, विधान-सभाओं में काम करने वाली स्त्रियों का रास्ता है।

कनाट-प्लेस तथा विधान-सभा की नारी में आधार-भूत भेद क्या है ? इन दोनों में आधार-भूत भेद यह है कि कनाट-प्लस की नारी समाज के विधि-विधान के विरुद्ध एक जीती-जागती प्रतिक्रिया है। वह मानो बाज़ार में चलती कहती जाती है—"तुमने अब तक स्त्री को पर्दे में रखा, यह देखो

मैंने परदे के तार-तार कर दिए; तुमने अब तक स्त्री को एक पुरुष से बाँधकर पुरुष को पूरी तरह की स्वतंत्रता दी, यह देखो मैंने तुम्हारे कानून को पैर की ठोकर मारकर चूर-चूर कर दिया; तुमने मेरे लिए एक और अपने लिए दूसरा शास्त्र गढ़ा, यह देखो मैंने तुम्हारे शास्त्रों को आग में झोंक दिया।" विधान-सभा की नारी समाज का ध्यान कनाट-प्लेस की नारी की तरफ़ आर्कषित करके कह रही है—"इस प्रकार की नारी को—उस नारी को जिसे समाज आज उच्छृंखल कह रहा है—उत्पन्न करने की ज़िम्मेवारी समाज की अपनी है। समाज ने आज तक जो इकतरफ़ा कानून बनाए हैं—पुरुषों के लिए एक तरह के, स्त्रियों के लिए दूसरी तरह के—इनकी प्रतिक्रिया के रूप में कनाट-प्लेस की-सी नारियों का उत्पन्न हो जाना भले ही समाज क लिए श्रेयस्कर न हो, परन्तु अवश्यम्भावी ज़रूर है। समाज के अन्याय-पूर्ण इकतरफ़ा विधि-विधान ने इन कानूनों को तोड़ने वाली नारी उत्पन्न कर दी है। आज जो स्त्री समाज के कानूनों को ललकार रही है वह क्या आसमान से आ टपकी है? किसी पिता की वह लाड़ली बेटी है, किसी भाई की वह स्नेहमयी बहन है, किसी पति की वह प्रियतमा पत्नी है। परन्तु पिता की बेटी, भाई की बहन और पति की पत्नी होते हुए भी वह पिताओं के, भाइयों के और पतियों के सदियों से चलाए हुए कायदे-कानूनों को चुनौती देने के लिए क्यों उठ खड़ी हुई है? इसलिए उठ खड़ी हुई है क्योंकि संसार में हर क्रिया की प्रतिक्रिया होना लाज़मी है—जब कोई बात हद तक पहुँच जाती है तब वह दूसरी हद की तरफ़ अपने-आप चलने लगती है। प्रतिक्रिया के नियम से ही संसार में समता आती है। कनाट-प्लेस की नारी के रास्ते को कौन सही कहता है? विधान-सभा की नारी, जो

नारी-जागरण की प्रतिमूर्ति है, जो नारी के अधिकारों के लिए वैधानिक लड़ाई लड़ रही है, वह भी तो कनाट-प्लेस की नारी के रास्ते को सही नहीं कहती। परन्तु इससे क्या ? आज नारी के अधिकारों की लड़ाई दो मोर्चों पर लड़ी जा रही है--एक अवैधानिक मोर्चा और दूसरा वैधानिक। अवैधानिक मोर्चा कनाट-प्लेस का मोर्चा है, और वैधानिक मोर्चा विधान-सभाओं का मोर्चा है, जहाँ हम इनी-गिनी स्त्रियाँ जो-कुछ बन पड़ता है कर रही हैं। अवैधानिक मोर्चे पर जो-कुछ हो रहा है उसीको नारी की उच्छृंखलता कहा जा रहा है, परन्तु यह उच्छृंखलता टिकाऊ चीज नहीं है, यह सदियों की दासता की प्रतिक्रिया है, प्रकृति का समता को लाने का अपना रास्ता है। हम देखते नहीं कि जब घड़ी का पैंडुलम एक तरफ़ को जाता है तब वह उतना ही दूसरी तरफ़ को भी जाता है ? दो महा-सीमाओं को छूता हुआ वह पैंडुलम धीरे-धीरे अपनी सीमाओं को संकुचित करता जाता है, और अन्त में समता में आ टिकता है। यही हालत सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया की होती है। समाज में जब कोई नियम सीमा से अधिक कड़ा हो जाता है तब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वयं उसी में से उठ खड़ी होती है। परन्तु वह प्रतिक्रिया चिरस्थायिनी नहीं होती। उसका उग्र रूप अपने पूर्व रूप को उखाड़ फेंकने भर के लिए होता है। उसके बाद उस प्रतिक्रिया के विरुद्ध स्वयं प्रतिक्रिया होने लगती है, और क्रिया-प्रतिक्रिया के घात-प्रतिघातों के फलस्वरूप विषमता दूर हो जाती है, समता आ जाती है।"

मनुष्य जब समाज के विधि-विधान की विषमता को स्वयं दूर नहीं करता तब उस विषमता को दूर करने का काम प्रकृति अपने हाथ में ले लेती है। विषमता, अन्याय, ऊँच-नीच, भेद-

भाव संसार में अवश्य हैं, परन्तु टिकनेवाले नहीं हैं। इनको आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, हमारे उद्योग से, या प्रकृति के उद्योग से हटना है, और अवश्य हटना है। प्रकृति किसी काम को तभी अपने हाथ में लेती है जब मनुष्य किसी काम को कर सकने की सामर्थ्य रखता हुआ भी उसे नहीं करता। आज स्त्री तथा पुरुष के सामाजिक स्तर और उनके अधिकारों में जो अन्यायपूर्ण विषमता उत्पन्न हो गई है, और सदियों से चली आ रही है, उसे या तो मनुष्य स्वयं दूर कर सकता है, या उसे प्रकृति दूर कर सकती है। विधान-सभाओं में काम करने वाली देवियाँ यह उद्योग कर रही हैं कि स्त्री-पुरुष के अधिकारों की विषमता को हम लोग अपने-आप अपने हाथों से दूर कर दें, उन कायदे-कानूनों को हम ही बदल दें जिनसे स्त्री को स्त्री होने के कारण नीचा पद प्राप्त ह, और पुरुष को पुरुष होने के कारण ही ऊँचा पद प्राप्त है। परन्तु हमारा रास्ता तो हमारा रास्ता है—मनुष्य का रास्ता। यह रास्ता कामयाब हो गया तो ठीक, न हुआ तो प्रकृति तो किसी की सुननेवाली नहीं, वह तो जहाँ विषमता देखती है वहीं उसे दूर करने को निकल पड़ती है। प्रकृति का खड़ा किया हुआ स्त्री की विषम स्थिति में प्रतिक्रियात्मक मार्ग ही आज भारतीय नारी की उच्छृंखलता कहा जाता है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर भारतीय पुरुष-समाज को देना है कि भारतीय नारी जो इस उच्छृंखलता के मार्ग पर जा रही है उसकी ज़िम्मेवारी किसपर है—स्त्री-समाज पर या पुरुष-समाज पर ?

१३

पुरुष बनाम स्त्री

अर्सा गुज़र गया जब डॉक्टर गौड़ ने उस समय की बड़ी व्यवस्थापिका-सभा में एक बिल पेश किया था, जिसके अनुसार हिंदू-स्त्रियाँ भी, किन्हीं ख़ास अवस्थाओं में, तलाक़ की अधिकारिणी थीं। यह सुनकर भाई लोग झुंझला उठे थे। वे कहते थे, गज़ब हो जायगा, स्त्रियाँ पतियों को छोड़ने लगेंगी, तो गंगा समुद्र से हिमालय को बहने लगेगी, सूर्य पश्चिम से उदय होने लगेगा, मेरु पृथिवी में धंस जायगा, अनर्थ हो जायगा! उनसे पूछते, इतनी आफ़त काहे को आ पड़ेगी, तो वे कहते थे, स्त्रियाँ पतियों को छोड़ दें, भला यह भी कभी हो सकता है? यह किस शास्त्र में लिखा है? जिस दिन ऐसा होने लगेगा, उस दिन भारत की स्त्री-जाति के उच्च आदर्श धूलि में मिल जाँयगे, पातिव्रत-धर्म शर्म के मारे मुंह छिपा लेगा, हिंदू-समाज का गौरव मटियामेट हो जायगा! परन्तु क्या मैं स्त्री-जाति की प्रतिनिधि होकर गंगा और हिमालय की दुहाई देनेवालों से पूछ सकती हूँ कि आज तक——जब से मनुष्य-समाज ने जन्म लिया, तब से आज तक——कभी ऐसा दिन भी आया है, जिस दिन पुरुष-जाति के उच्च सिद्धांत ख़तरे में पड़े हों, जिस दिन पुरुषों के घृणित तथा भयंकर कुकृत्यों से हिंदू-धर्म की पुरानी नैया डगमगाई हो? पुरुषों ने क्या-क्या नहीं किया, और किस बात में कसर रक्खी? इसी हिंदू-समाज में ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं,

जिनकी दो-दो स्त्रियाँ हैं, परन्तु यह कहता कोई दिखाई नहीं देता कि हिंदू-धर्म का कोई ऊँचा सिद्धांत ख़तरे में है; इसी नैया में ऐसे लोग बैठे हैं, जिन्होंने एक पाँव क़ब्र में रखकर दूसरे पाँव से विवाह-मंडप की यज्ञ-वेदी की प्रदक्षिणा की है, परन्तु अब तक यह भँवरों को चीरती हुई बड़े वेग से चली जा रही है, बाल-भर भी डाँवाडोल नहीं होती ! साठ वर्ष के कोढ़ी के हाथ सोलह वर्ष की युवती बेच दी जाती है, और हिंदू-धर्म अपूर्व गौरव से मस्तक ऊँचा कर तिलक लगाता है ! जिस धर्म पर अब तक कलंक का टीका नहीं लगा, उस पर अब कैसे लग जायगा ? जो नैया बड़े-बड़े तूफ़ानों में नहीं डगमगाई, वह छोटी-छोटी लहरों से कैसे डोल जायगी ? परन्तु नहीं, पुरुष-जाति के आदर्श ख़तरे में पड़ते हैं, तो पड़ते रहें, उन्हें चिंता है स्त्री-जाति के आदर्शों को ख़तरे से बचाने की; पत्नी-व्रत-धर्म चूल्हे भाड़ में जाय तो जाय, उन्हें फ़िक्र है पति-व्रत-धर्म की ! कोई इन भलेमानसों से पूछे—तुम्हें अपनी भी फ़िक्र है ? तुम्हे यह भी पता है कि तुम्हारी करतूतों से हिंदू-धर्म के उज्ज्वल मुख पर कितनी कालिख पुत रही तथा पुत चुकी है ? स्त्रियों के उच्च आदर्शों को स्त्रियाँ समझती हैं, और समझ लेंगी; क्या पुरुष भी अपने को मापने के लिए कुछ आदर्श बनाएँगे ?

भारतवर्ष में १६ वर्ष से छोटी आयु की अब भी लाखों विधवाएँ हैं। इनमें से अधिकाँश का विवाह तब हो गया था, जब वे विवाह को वैसा ही खेल समझती थीं, जैसा गुड्डे-गुड्डियों का। बहुतों को तो बड़े होकर बतलाया गया कि वे विधवा हो गई हैं, और इसीसे उन्होंने अनुमान किया कि उनका विवाह हुआ होगा ! यदि कोई कह दे, इन विधवाओं का विवाह हो जाना चाहिए, तब भी कई धर्म-प्रेमियों को आसमान फटता

नज़र आता है। वे समझते हैं, बस, अब पृथ्वी रसातल को चली ! इतना घोर कलिकाल--विधवाएँ ब्याह करने लगें ! भारतीय स्त्रियों के तप से ही तो अब तक प्राचीन सभ्यता क़ायम थी, जो दवियाँ पतियों के साथ चिता की लपटों में कूद पड़ीं, उन्हींके सतीत्व से ही तो स्त्री-जाति का गौरव बना हुआ था, क्या उस आदर्श का अब गला घोट दिया जायगा, और विधवाओं का विवाह होने लगेगा ? परंतु क्या मैं उन विधवाओं के मूक-चीत्कारों की प्रतिध्वनि को दोहराती हुई पूछ सकती हूँ कि आज तक कितने पतियों ने पत्नी के मर जाने पर आँतरिक वियोग को अनुभव करते हुए उसकी चिता को अपनाया है ? चिता को अपनाना दूर रहा, मैं पूछती हूँ, आज तक कितने पतियों ने पत्नी-वियोग के बाद दूसरा विवाह करना पाप समझा है ? यहाँ तो शास्त्र ही उलटे बना रक्खे हैं। पति के मर जाने पर स्त्री का आजन्म उसकी स्मृति की आराधना करना धर्म है--पति को उसने देखा हो या न हो, उसकी काल्पनिक स्मृति ही पत्नी के लिए पर्याप्त है, परन्तु पत्नी के मर जाने पर उसे जल्दी-से-जल्दी स्मृति-पट से मिटा देना पति का धर्म है ! जिस मृतपत्नीक पुरुष की श्मशान से लौटते-लौटते रास्ते में ही एकदम सगाई नहीं हो जाती, वह पुरुष ही क्या ? मैं पूछती हूँ, जो आदर्श, इन करतूतों के होते हुए भी, अब तक हिंदू-धर्म के नभोमंडल में तारा-समूह के समान ज्योति का पुंज बरसा रहे हैं, वे एक बाल-विधवा के, जिसका गर्भावस्था में ही वाग्दान हो गया था, जिसके पति का उसके पैदा होने से पूर्व ही स्वर्गवास हो गया था, विवाह कर लेने से कैसे लुप्त हो जाँयगे ? पुरुष की एक के बाद दूसरी स्त्री मरती जाय, और वह नए-नए सिरे से सेहरा बाँधता जाय ; स्त्री का पाँच वर्ष की अवस्था में ही पति क्यों न मर जाय,

वह विवाह का भाव भी हृदय में न आने दे——यही स्त्री का धर्म है! यह धर्म गया नहीं और हिंदू-धर्म की योजनों लंबी नाक कटी नहीं! पुरुषों को यही फ़िक्र सदा रही है कि कहीं विधवाएँ इस उच्च आदर्श से न डिग जाँय! धन्य हैं पुरुष, जिन्हें अपनी तबाही की कोई फ़िक्र नहीं, परन्तु जिन्हें स्त्री के आदर्शों को सुरक्षित बनाए रखने की चिंता हर घड़ी व्याकुल किए रहती है।

स्त्रियों के लिए एक और ऊँचा आदर्श है, और वह है 'पति-सेवा' का। स्त्री का सबसे बड़ा धर्म पति की पूजा करना है, वही उसका आराध्य देवता है, परमेश्वर है। स्त्री को इस जन्म में ही नहीं, जन्म-जन्मांतरों में भी उसी पति की सेवा करनी चाहिए। पति चाहे कुछ कह दे, पत्नी का धर्म उसके चरणों में शीश नवाकर उसकी आज्ञा का पालन करना है। पति अपने चरणों पर पड़े पत्नी के सर को भले ही पैरों से ठुकरा दे, पर पत्नी का धर्म है कि ज़बान से आवाज़ न निकलने दे। पति अपनी पत्नी के बाल पकड़कर घसीट सकता है, उसकी छाती पर चढ़कर उसका ख़ून पी सकता है, उसके गले पर छुरी चला सकता है, राज-नियम ऐसे व्यक्ति को भले ही राक्षस कहकर फाँसी पर लटका दे, परन्तु स्त्री का धर्म ऐसे नर-पिशाच को भी देवता समझकर ही पूजना है। हिंदू-धर्म की लाज इसी तरह रक्खी जा सकती है। नित्यप्रति की घटनाओं को पुरुष-समाज सुनता है, और सुनकर भारत की स्त्री-जाति के उच्च आदर्शों के सम्मुख सिर झुकाता है! आज अमुक पुरुष ने क्रोध में आकर अपनी स्त्री को मारते-मारते अधमरा कर दिया, परन्तु धन्य है उसकी स्त्री, उसने आँखें खोलते ही पति के चरणों पर माथा टेक दिया! कल फ़लाने ने धक्के देकर अपनी स्त्री को घर से बाहर निकाल दिया, परंतु शाबाश है उसकी

स्त्री को, उसने चूं तक नहीं किया। परसों एक ने घर के दरवाज़े पर खड़े होकर अपनी स्त्री को ज्यों गालियाँ बकनी शुरू कीं, बे-लगाम बकता ही चला गया, लेकिन वाह रे 'देवी'--उसने कानों में रुई डालकर सब-कुछ सन लिया! ये कहानियाँ रोज़ सनाई जाती हैं, और स्त्री-जाति को अपने आदर्शों के पीछे मर मिटने के लिए सराहा जाता है। परन्तु क्या मैं उन मारी गई, लताड़ी गई, आदर्शों पर मारी जा रही और मिटाई जा रही अबलाओं की तरफ़ से पूछ सकती हूँ कि यदि शराब पीकर, जुआ खेलकर, पत्नी के ज़ेवर बेचकर और फिर पत्नी को ठुकराकर हिंदू-धर्म की नौका नहीं डूबी, तो ऐसे पतियों को यदि पत्नियाँ ठुकरा दें, तो यह नौका क्योंकर डूब जायगी? यदि अपनी बेक़सूर पत्नी को खुले बाज़ार गालियाँ देने से हिंदू-धर्म की लाज ख़तरे में नहीं पड़ती, तो ऐसे पति की ज़बान खींच लेने से वह लाज किस प्रकार ख़तरे में पड़ सकती है? परंतु नहीं, वे कहते हैं दोनों का धर्म ही भिन्न-भिन्न है। पति चाहे कैसा ही हो, उसकी सेवा करना, उसके लिए प्राण तक वार देना पत्नी का धर्म है--आखिर, इस ऊँचे आदर्श को स्त्रियाँ नहीं पालेंगी, तो और कौन पालेगा! परन्तु कोई इन आदर्श-वादियों से पूछे--तुम्हारे भी कुछ आदर्श हैं, या स्त्री को पति-सेवा का उपदेश देते रहना ही तुम्हारा एकमात्र आदर्श रह गया है?

मेरा यह अभिप्राय कभी नहीं कि स्त्रियों को तलाक़ का निर्बाध अधिकार मिल जाना चाहिए, मेरा यह अभिप्राय भी नहीं कि विधवाओं की शादी हर हालत में हो ही जानी चाहिए, न मेरा यही अभिप्राय है कि स्त्रियों को पति-सेवा छोड़कर पति के साथ 'जैसे-को-तैसा' का व्यवहार करना चाहिए। तलाक़

के प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर भी मेरी बहनें इतनी गौ हैं कि उन्हें जिस खूँटे के साथ बाँध दिया जायगा, उसके रस्से से उनका गला भले ही घुट जाय, वे उस खूंटे से अलग न होंगी; विधवाओं के विवाह के लिये कितने ही लेख लिखें जाँय, कितने ही लेक्चर झाड़े जाँय, जिस क्षण उन्हें मालूम हो गया, वे विधवा हैं, चाहे वे दस वर्ष की बच्ची की ही क्यों न हों, उसी क्षण वे सुहाग के चिह्न उतारकर संपूर्ण जीवन के लिए कठोर तपस्या का व्रत लेकर बैठ जाँयगी, उनका पति कितना ही क्रूर क्यों न हो—चोर हो, जार हो, कोढ़ी हो, अपाहिज हो—वे प्रातः-सायं उसकी आरती उतारेंगी, उसे आराध्य देव ही कहेंगी, उसे अपना ईश्वर समझकर ही उसकी पूजा करेंगी। भारत की स्त्रियाँ इन्हीं विचारों में पाली गई हैं, ये विचार उनकी आदत के हिस्से बन गए हैं, वे इन विचारों को छोड़ नहीं सकतीं। परंतु क्या इन आदर्शों के पालने का ठेका सदा स्त्रियों के ज़िम्मे ही रहेगा? मैं कुछ देर के लिए मान लेती हूँ, तलाक़ का विचार एक अत्यंत क्षुद्र तथा नीच विचार है; स्त्री-पुरुष का संबंध जन्म-जन्मांतरों का संबंध होना चाहिए, तलाक़ इस उच्च आदर्श का उपहास है। परन्तु मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं कि इस उच्च आदर्श को निभाना केवल स्त्री का काम है। यह उच्च आदर्श है, तो स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए है, केवल स्त्री के लिए नहीं! और, अगर पुरुष के लिए यह उच्च आदर्श नहीं है, तो स्त्री के लिए भी नहीं है। पुरुषों ने इस आदर्श को निर्दयता-पूर्वक पैरों तले कुचला है; स्त्री ने—कम-से-कम भारत की सती नारी ने—इस आदर्श को स्वप्न में भी कुचलने का साहस नहीं किया। मैं यह भी मानने के लिए तैयार नहीं कि पुरुषों द्वारा तो इस उच्च आदर्श का तिरस्कार किये जाने पर हिंदू-धर्म की नौका

अब तक नहीं डगमगाई; यदि स्त्रियाँ इस आदर्श को छोड़ बैठेंगी, तो वह नौका मँझधार में जा डूबेगी। मैं समझती हूँ कि यदि इस आदर्श को कुचलने से धर्म की नौका डूबती है, तो वह पुरुषों की मेहरबानी से कभी की डूब चुकी है; अब स्त्रियों के पास तो डुबाने के लिए कोई नौका ही नहीं है! मैं मान सकती हूँ, विधवाओं को––कम-से-कम जिनकी बड़ी उम्र में शादी हुई हो––पुनर्विवाह के लिए प्रेरित करना कोई अच्छा काम नहीं है। वे अपने पति की स्मृति को भुला नहीं सकतीं! उन्हें विवाह के लिए कहना स्त्री-हृदय की गहराई को न पा सकना है। परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि जिन बहनों को 'विवाह'-शब्द के अर्थ का ही नहीं पता था, जिनके माता-पिता ने अपनी नासमझी से उन्हें विधवा बनाया, उनके विवाह कर लेने में हिंदू-धर्म की नाक क्यों कट जाती है? यदि एक बार विवाह हो जाने पर––चाहे वह समझ-बूझ कर हुआ हो, चाहे बेसमझे-बूझे––फिर किसी एक के मर जाने पर विवाह करना अनुचित है, तो वह स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए अनुचित है, किसी एक के लिए ही क्यों? जिस धर्मशास्त्र में लिखा हो कि पुरुष विधुर होता जाय, और नए-नए विवाह रचाता जाय, परन्तु स्त्री विधवा होते ही सिर मुंडा ले, माला हाथ में ले ले, वह धर्मशास्त्र इक-तरफ़ा है, अन्याय-पूर्ण ह! मैं यह नहीं समझ सकती कि जो धर्म-नौका लाखों पुरुषों के दस-दस बार विवाह कर लेने पर भी शास्त्र-समुद्र पर बत्तख की तरह तैरती चली जाती है, वह किसी बिरली, एक-आध स्त्री के विधवा हो जाने पर दूसरी शादी कर लेने से कैसे रसातल में जा डूबती है! अब रही पति-सेवा। मैं मानती हूँ, पति स्त्री का देवता होता है, पति में

स्त्री के प्राण बसते हैं। परंतु पति-सेवा के लिए स्त्रियों को उपदेश देने की तो कोई ज़रूरत नहीं। भारत की स्त्रियाँ तो दिन-रात यह मनाती ही रहती हैं कि उन्हें पति के चरणों की सेवा से कभी वंचित न किया जाय, वे अपने पति को लिखती हैं—'आपके चरणों की दासी'। इसी तन - मन अर्पण करने वाली दासी को हिंदू-धर्म में जिस प्रकार ठुकराया जाता है, उसे देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह दासी अपनी सेवा का कुछ प्रतिकार नहीं चाहती, वह जितनी ठुकराई जाती है, उतनी ही पति के चरणों की धूलि लेकर माथे पर चढ़ाती है, निष्काम-भाव से पति की सेवा में प्राण त्याग देना उसके जीवन की सबसे बड़ी साध होती है। परन्तु क्या इतनी अबलाओं का पतियों से ठुकराए जाकर उनके चरणों में पड़े-पड़े बिलख-बिलख कर आँखें मूँद लेना हिंदू-धर्म की नौका को कुछ भी विचलित नहीं करता ? पति की सेवा करना बड़ा ऊँचा आदर्श है, इस आदर्श के दवता पर लाखों अबलाओं ने अपने को बलि-रूप से चढ़ा दिया है, परन्तु मेरे हृदय में प्रश्न उठता है—क्या ये बलियाँ पत्थर के देवता की आराधना में ही तो नहीं चढ़ाई जा रहीं ? क्या देवता असल में देवता है, या निरा हाड़-माँस का पुतला ?

दो शब्दों में मेरी शिकायत केवल यह है—जीवन-यात्रा में चलते हुए कई आदर्श हमारे सामने आते हैं। पुरुष-समाज इन आदर्शों से अब तक बचने की कोशिश करता रहा है। शायद कइयों को यह कहना अधिक संगत प्रतीत होगा कि कम-से-कम इस समय पुरुष-समाज इन आदर्शों से अपनी जान बचा रहा है। इन आदर्शों को मढ़ा गया है स्त्री-जाति

के सिर! बड़े-बड़े धुरंधर पंडित दोनों हाथ उठाकर चिल्ला रहे हैं, स्त्रियों का धर्म है कि पति की जीवन-पर्यन्त सेवा करें; स्त्रियों का धर्म है कि पति के मर जाने पर भी उसकी स्मृति की पूजा करें! मैं सोचती हूँ कहीं 'धर्म' की इस दुहाई के पीछे पुरुष-जाति की अपनी कमज़ोरी तो नहीं छिपी हुई ? यदि स्त्री-जाति के प्रतिनिधि इकट्ठे होकर यह निश्चय करें कि पुरुष के बहु-विवाह करने से हिंदू-धर्म की नैया डावाँडोल हो रही है; उनके पत्नी के मर जाने पर फिर से शादी कर लेने से हिंदू-धर्म की नाक कट चुकी है, और बची-खुची भी कटने-वाली है; पति अपनी सेवा-परायणा स्त्री को भी पैर से ठुकराता है, इससे धर्म 'त्राहि-त्राहि' पुकार रहा है—यदि सब स्त्रियाँ मिलकर यह पास करें, जैसा पिछले दिनों कुछ-कुछ विधान-सभाओं में तय हो चुका है, तो पुरुषों के पास क्या उत्तर है ? और, अब तो ज़माना ऐसा आ भी गया है। अब स्त्रियाँ इन इक-तरफ़ा फ़तवों को मानने के लिए तय्यार नहीं। इसका यह मतलब नहीं कि स्त्रियाँ अपने आदर्शों को छोड़ देंगी। स्त्रियाँ तो आदर्श के लिए पैदा ही होती हैं, वे अपने आदर्श नहीं छोड़ेंगी, परन्तु जिन आदर्शों का वे पालन करती रही हैं, उन्हें पुरुष-समाज से भी पालन करवा कर छोड़ेंगी।

पुरुषों ने स्त्रियों के लिए उच्च आदर्श बना दिए हैं। वे उच्च हैं, इसमें संदह नहीं, परन्तु साथ ही वे इकतरफ़ा हैं। स्त्रियों की तरफ़ से माँग उठ रही है—इन आदर्शों का पालन पुरुष को भी करना होगा! यदि पुरुष इन आदर्शों को पालने से चूकेंगे, जैसा कि वे चूक रहे हैं, तो वही होगा, जो आज हमारी आँखों के सम्मुख हो रहा है।

१४

विधवा !

जिस पुरुष की पत्नी का देहान्त हो जाय वह 'विधुर' कहाता है; जिस स्त्री के पति का देहान्त हो जाय वह 'विधवा' कहाती है। इस दृष्टि से समाज में 'विधुर' तथा 'विधवा' की एक ही स्थिति होनी चाहिए, परन्तु इन दोनों में अन्तर—ओह ! ज़मीन-आसमान का अन्तर — है ! विधुर होना एक साधारण-सी घटना है, विधवा होना पिछले जन्म-जन्मान्तरों तथा इस जन्म के संचित पापों का फल है; विधुर होना अगली शादियों की तैयारी में एक कदम है, विधवा होना सिर मुंडवाकर, काली ओढ़नी ओढ़कर, आजन्म अश्रु-धारा बहाने के लिए अपने को तैयार करना है। 'विधुर' तथा 'विधवा' की सामाजिक-स्थिति में यह अन्तर क्यों ? आख़िर पुरुष तथा स्त्री के अधिकारों को परखने का क्या कोई ऐसा पैमाना है जिससे किसी भले आदमी को यह समझाया जा सके कि पुरुष को तो विधुर होने पर शादी करने की इजाज़त देना ठीक है, और स्त्री को विधवा होने पर चिता में भस्म हो जाना या चिन्ता की चिता में आजन्म झुलसते रहना ठीक है ? अगर समाज के कर्णधारों के पास एसा कोई पैमाना नहीं है, तो क्या हिन्दू-विधवा पर सदियों से अन्याय तथा अत्याचार नहीं होता रहा ? इस अन्याय का, इस अत्याचार का यही कारण है कि वर्तमान हिन्दू-समाज की कल्पना करते हुए स्त्रीं को सामने ही नहीं रक्खा गया, और यदि रक्खा भी गया है,

तो उसके अधिकारों को कुचलने के लिए, उसे अपनी निस्सहाय तथा अबलापन की अवस्था जतलाने के लिए।

वैसे तो स्त्री की हमारे समाज में जो भी स्थिति है उसे सोच-सोचकर हृदय विद्रोह मचाने लगता है। बहन को भाई के लिए अपने हृदय में सम्मान के भाव रखना सिखाया जाता है, परन्तु भाई अपनी बहन को नाचीज़ ही समझता है। माँ अपने लड़के पर गर्व करती है, पर लड़की को वह फ़ालतू समझकर ही पालती है। पत्नी अपने पति को देवता समझकर पूजती है, परन्तु पति अपनी पत्नी के साथ दासी-का-सा ही बर्ताव करता है। बहन, बेटी तथा पत्नी की स्थिति में तो समाज ने स्त्री को जो दुत्कारा वह तो है ही, परन्तु विधवा की स्थिति में तो समाज ने स्त्री के साथ क्रूरता के व्यवहार में हद ही कर दी। स्त्री विधवा क्या होती है मानो वह पहाड़ से खाई में जा गिरती है। पति की जीवित अवस्था में वह रानी थी; पति के मरते ही वह भिखारिन हो जाती है। कोई पति ऐसा नहीं देखा गया जो अपनी स्त्री के कारण राजा कहाता हो, और स्त्री के मरने के कारण भिखारी समझा गया हो। उस समाज के संगठन की जड़ में अवश्य कोइ कीड़ा लगा होना चाहिए जिसमें स्त्री क मर जाने पर पुरुष की स्थिति में कोई फ़रक़ नहीं पड़ता, परन्तु पुरुष के मर जाने पर स्त्री की स्थिति में फ़रक क्या पड़ जाता है, गज़ब हो जाता है—उसके लिए दुनिया ही पलट जाती है। जहाँ घटना एक-सी हो, और नतीजा ज़मीन-आसमान का फ़रक़ डाल दे, वहाँ अगर उस संगठन के प्रति विद्रोह उठ खड़ा हो, तो क्या ताज्जुब? स्त्री की विधवापन ही हालत, और विधवा स्त्री के साथ हिन्दू-समाज का बर्ताव स्त्री की हिन्दू-समाज में स्थिति को नग्नरूप में हमारे सम्मुख ला खड़ा करता है। पुरुष की हमारे समाज में

स्थिति है, इसलिए स्त्री के मर जाने पर उसकी स्थिति में बाल-भर भी फ़रक नहीं पड़ता, स्त्री की हमारे समाज में रत्ती भर भी स्थिति नहीं, इसलिए पुरुष के मर जाने पर स्त्री रही-न-रही—एक समान हो जाती है। अंकगणित की परिभाषा में कहा जाय, तो हमारे समाज में स्त्री का मूल्य शून्य के बराबर है। शून्य किसी संख्या म से निकाल या जोड़ दिया जाय, तो उस संख्या के मूल्य में अन्तर नहीं पड़ता। हिन्दू-समाज में, किसी स्त्री के साथ विवाह हो जाने पर पुरुष की स्थिति वैसी-की-वैसी बनी रहती है। उसमें घटती नहीं होती, बढ़ती नहीं होती। किसी संख्या को शून्य से अलहदा कर लिया जाय, तो शून्य का मूल्य शून्य ही रह जाता है। स्त्री को भी पति से अलहदा कर लिया जाय, तो स्त्री की स्थिति शून्य हो जाती है, वह कुछ रहती ही नहीं। स्त्री का वैधव्य उसे अपनी तुच्छता का दारुण प्रत्यक्ष करा देता है। अगर भारत का स्त्री-समाज इस अवस्था में अधिक देर तक रहने से आज इनकार कर रहा है, तो इस पर शास्त्रों के ठेकेदारों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। आपत्ति तब होती अगर स्त्री, पुरुष के समान जीवधारी न होकर कोई अलग जन्तु होती। जिन्हें आपत्ति होती है उन्हें होती भी इसीलिए है क्योंकि वे स्त्री को पुरुष की भाँति प्राणी न समझने के आदी हो गए हैं। परन्तु अब वे दिन गए, और सदा के लिए गए। आँखों पर पट्टी बाँधकर लोग भले ही स्त्री को अपने से निचले दर्जे की, शायद पशुओं के नज़दीक-नज़दीक की समझते रहें, परन्तु यह आँखों की पट्टी भी अब देर तक नहीं बँधी रह सकती क्योंकि स्त्रियों के अधिकारों की गगन-भेदी पुकार उनके बहरे कानों के छेदों को पारकर उन्हें आँखें उघाड़ने को विवश कर रही है।

भारत की नारी ने सदियों से आजतक जो तपस्या की है, क्या उसका प्रतिकार उसे कुछ न मिलेगा? पुत्री के रूप में उसने जन्मते ही अनेक नर-पिशाचों के हाथों, ऐसे लोगों के हाथों जो उसे जन्म देनेवाले थे, अपने कोमल गले पर छुरी तक चलवा ली है। कई बार अपने को जीते-जी मट्टी में दबवा लिया है। पत्नी के रूप में उसने पति के सम्मुख अपने व्यक्तित्व को बिलकुल मिटा दिया है। पति जितना राक्षसी रूप धारण करता गया, पत्नी उतनी ही देवी का रूप धारण करती गई है। भारत के पति की इच्छा-वेदी पर यहाँ की नारी ने अपने तन, मन तथा आत्मा को बलि बनाकर चढ़ा दिया है। पति के लिए पत्नी ने वास्तविक अर्थों में अपने प्राणों को हवा की फूँक समझा है। विधवा के रूप में उसकी तपस्या ने चरम सीमा का भी उल्लंघन कर दिया है। विधवा ने आत्म-बलिदान के यज्ञ में किस प्रकार अपने प्राणों की भर-भर कर आहुति दी है, इसकी कहानी पाषाण-हृदय भी बिना आँसू बहाये नहीं सुन सकता। इसी देश की तो विधवाएँ थीं जो पति के मरने के बाद अपने हाथों से अपनी चिताएँ चिना करती थीं। वे अपने ही हाथों उसमें आग देती थीं, और उसी धधकती आग की लपटों पर समाधिस्थ हो जाया करती थीं। अगर वे इस प्रकार अपने प्राणों की आहुति नहीं दे सकती थीं, तो जब तक जीती थीं ज़मीन पर सोती थीं, रूखा-सूखा खाती थीं, उम्रभर उपवास और जप-तप में गुज़ार देती थीं, अपने जीवन का एक-एक साँस मानो सूली पर टंगी हुई काटती थीं। और, 'थीं' क्यों? क्या आज ऐसी विधवाओं की कमी है जो विधवा होते ही भूल जाती हैं कि वे जीवित हैं? इसमें शक नहीं कि वे चिता में भस्म नहीं हो जातीं, परन्तु चिता में भस्म हो जाने पर तो टंटा एकदम ख़त्म हो जाता

है। आज की विधवा तो ऐसी चिता में तिल-तिल जलकर अपने प्राणों को छोड़ती है जिसमें न मरा ही जाता है, न जिया ही जाता है; शरीर जलकर न राख ही होता है, न उसके पास उस आग से बचने का ही कोई रास्ता है। भारत की विधवाओं ने जो तपस्या की है उसे देखकर पुरुष-समाज में अगर शरम होती, तो स्त्रियों की स्थिति का प्रश्न कभी का हल हो चुका होता। अगर तपस्या से कोई ऊपर उठता है, तो भारत की विधवा ने देवताओं के आसन को भी डाँवाडोल कर देनेवाली अपनी भीषण तपस्या से स्त्री-जाति को इतना ऊपर उठा दिया है, जहाँ पुरुष-सामाज की दृष्टि भी नहीं पहुँच सकती। कहते हैं, तपस्या के प्रभाव से स्वयं भगवान् की समाधि भंग हो जाती है, और वे वरदान देने आ पहुँचते हैं। भारत की विधवा की तपस्या दो-चार दिन की नहीं है, दस-बीस साल की नहीं है, यह सदियों की तपस्या है। सदियों से वह बार-बार लगातार आत्म-बलिदान कर रही है, पर हिन्दू-समाज की आत्मा को तृप्त करने के लिए इस महान् बलिदान का नतीजा क्या हुआ? भगवान् का स्त्री-समाज को वरदान देने को उतरना तो दूर, इस तपस्विनी नारी को तो हिन्दू-समाज अधिकाधिक रसातल में पहुँचाने की कोशिश कर रहा है। विधवा तपस्या करती है, अपने प्राणों की बाज़ी लगाती है, और पुरुष-समाज उसकी साधना का मानो उपहास करता हुआ कहता है कि विधवा इसी के लायक़ है।

भारत की विधवा ने सदियों के इतिहास से यह सिद्ध कर दिया है कि उसके शरीर, मन तथा आत्मा का निर्माण त्याग और तपस्या की भावनाओं को सञ्चित करके हुआ है। भारत की एक-एक विधवा आत्म-बलिदान की साक्षात् मूर्ति है। इतना त्याग, इतनी तपस्या, इतना बलिदान—किस लिए? संसार की

उच्चतम विभूतियों की खान होते हुए भी अगर भारत की नारी की वही स्थिति रहनी है जिसका नग्न-चित्र हिन्दू-समाज में विधवा की स्थिति से प्रत्यक्ष होता है, तो स्त्री-समाज का त्याग, उसकी तपस्या, उसका बलिदान सब धूल में मिला जा रहा है। त्याग करना चाहिए, अपने आराध्य देव के लिए; तपस्या करनी चाहिए, अपने इष्ट को पाने के लिए; बलिदान करना चाहिए, अपने देवता के मनाने के लिए—परन्तु यहाँ त्याग है, आराध्य देव नहीं; तपस्या है, इष्ट नहीं; बलिदान है, देवता नहीं। विधवा अपने पति की स्मृति से जीवन पाकर काँटों की सेज पर सोती है, और पति अपनी परिणीता पत्नी की मौजूदगी में भी अपने को सामाजिक बन्धनों से ऊपर समझता है। जिस समाज में स्त्री के साथ इतना अन्याय है, क्या स्त्री उस समाजरूपी देवता के चरणों पर अपने त्याग, तपस्या और बलिदान के फूल चढ़ाती ही चली जायगी? और, क्या इसीलिए आज अनेक विधवाएँ समाज के अन्याय से पीड़ित होकर उसके संगठन को ठुकराती हुई नज़र नहीं आ रहीं? आज विधवा के साथ किये जाने वाले बर्ताव से भारत की स्त्री-जाति को यह समझ पड़ गया ह कि हिन्दू-समाज त्याग तथा तपस्या की उन भावनाओं के योग्य ही नहीं रहा, जिन भावनाओं में वे अब तक पलती और साँस लेती आ रही हैं। पुरुषों के तो पहले भी कोई आदर्श नहीं थे, न अब हैं; परन्तु स्त्रियों के आदर्श भी समाज में स्त्री के साथ असमानता के बर्ताव के कारण लुप्त होते जा रहे हैं, क्योंकि उन्हें अपनी साधना का कोई फल नहीं दीख रहा! आज यह ज़रूरी दीख रहा है कि समाज में स्त्री को उसकी वास्तविक स्थिति दे दी जाय, क्योंकि आज की नारी जाग गई है और हमारी सामाजिक रचना को देखकर दाँत पीस रही है,

इसका निर्माण करने वालों को अपनी ओज-भरी वाणी से शाप दे रही है और इस गन्दे सामाजिक-संगठन को भस्म कर देने के लिए आँखों से आग उगल रही है। अगर समाज ने स्त्री को उसकी वास्तविक स्थिति न दी, तो तपस्या और त्याग की देवी रणचण्डी बन जायगी, शान्ति तथा मिठास का स्रोत बहाने के स्थान पर ज्वालामुखी के शोले उगलने लगेगी।

विधवा का प्रश्न स्त्री के अन्य प्रश्नों से जुदा नहीं है। यह प्रश्न अन्य प्रश्नों की तरह, स्त्री की समाज में स्थिति का प्रश्न है। हाँ, विधवा के साथ समाज जो बर्ताव कर रहा है वह समाज में स्त्री की स्थिति के प्रश्न को बड़े उग्र तथा स्पष्ट रूप में हमारे सम्मुख ले आता है। विधुर होना बुरा नहीं समझा जाता, विधवा होना बुरा समझा जाता है, पापों का फल समझा जाता है। मेरा प्रश्न है, और मेरे साथ हिन्दू-समाज की एक-एक नारी का प्रश्न है कि विधवा तथा विधुर की सामाजिक-स्थिति में यह भेद क्यों है? अगर भेद है, तो आज का जगा हुआ स्त्री-समाज इस भेद को मिटाकर रहेगा। 'विधवा' तथा 'विधुर' की सामाजिक-स्थिति में भेद 'स्त्री' तथा 'पुरुष' की सामाजिक-स्थिति में भेद पर आश्रित है। इसलिए स्त्री-समाज विधवा के प्रश्न को हल करने के लिए स्त्री की स्थिति के आधारभूत प्रश्न को हल करेगा। स्त्री में त्याग, तपस्या और आत्मोत्सर्ग सब-कुछ रहेगा, परन्तु अब आनेवाले दिनों में त्याग होगा स्त्री को उसके खोये हुए सामाजिक अधिकार दिलाने के लिए, तपस्या होगी इन अधिकारों की लड़ाई में आनेवाली कठिनाइयों को सहने के लिए और आत्मोत्सर्ग होगा अधिकारों के देवता पर आवश्यकता पड़ने पर अपने को बलि चढ़ाने के लिए!

१५

नारी के अधिकारों का घोषणा-पत्र

[विवाह, तलाक तथा उत्तराधिकार कानून]

१. भूमिका

हमारे सामाजिक-विधान में पिछले एक-डेढ़ हज़ार साल से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आज की और हज़ार साल पहिले की दुनिया में ज़मीन-आस्मान का अन्तर होगा—फिर भी वही पुरानी सामाजिक-व्यवस्था जो अब से हज़ार साल पहिले थी आज भी प्रचलित है। परिस्थितियाँ बदल गईं किन्तु कानून नहीं बदला। यही कारण है कि वर्त्तमान कानून हमारे समाज की ज्वलन्त समस्याओं को हल करने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। उदाहरणार्थ, उस स्त्री के सम्मुख, जिसका पति उसके जीते-जी दूसरा विवाह कर लेता है, परित्यक्ता के रूप में दुःखी तथा अपमानपूर्ण जीवन बिताने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं। वह स्त्री जिसका पल्ला एक बार किसी व्यक्ति से बँध गया, चाहे वह पागल या हद्द दर्जे का मूर्ख ही क्यों न हो, उससे आजन्म छूट नहीं सकता। एक लखपति की कन्या यदि विधि के विधान से किसी ग़रीब घर में व्याह कर चली गई, तो अपने पिता की सम्पत्ति से उसे कोई हिस्सा नहीं मिल सकता, क्योंकि कानून के अनुसार केवल पुत्र ही सम्पत्ति का मालिक हो सकता है, पुत्री नहीं। एक विधवा पत्नी को अपने पति की कमाई पर भी पूरा अधिकार नहीं मिलता। इस प्रकार हमारी वर्तमान कानून-व्यवस्था ने हमारे समाज की

समस्याओं को हल करने के स्थान में नई समस्यायें खड़ी कर दी हैं। ये समस्यायें पिछले सौ-डेढ़ सौ सालों से तो इतनी उग्र हो चुकी हैं कि लगभग सभी समाज-शास्त्रियों का ध्यान अपने-अपने समय में इनकी ओर जाता रहा है। पिछले तीस सालों में तो हमारे विधान-निर्माताओं ने नई परिस्थितियों के अनुकूल एक नया हिन्दू कोड बनाने के अनेक संगठित प्रयत्न किये। वर्तमान हिन्दू कोड विधेयक इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। यह कोड समाज की अधिकांश ज्वलन्त समस्याओं को जिनमें से कुछ की ओर ऊपर संकेत किया गया है, हल करने का प्रयत्न करता है। इसके द्वारा हमारे सामाजिक प्रश्नों को किस प्रकार सुलझाया जायेगा तथा हमारे जीवन पर इसका व्यावहारिक रूप में क्या प्रभाव पड़ेगा—इस सम्बन्ध में विचार करने का हम यहाँ कुछ प्रयत्न करेंगे।

हिन्दू कोड बिल को छः भागों में बाँटा गया है जो इस प्रकार हैं:—(१) विवाह तथा तलाक, (२) उत्तराधिकार, (३) अभिभावकता, (४) गोद लेना, (५) निर्वाह, (६) संयुक्त-परिवार। इनमें से पहिले दो पर कानून बन चुके हैं और वास्तव में 'विवाह' तथा 'उत्तराधिकार' ही हिन्दू कोड के महत्वपूर्ण भाग ह। इनका हमारे क्रियात्मक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ने वाला है, अतः इनकी समाज पर व्यावहारिक रूप में प्रतिक्रिया की दृष्टि से हम उपरोक्त दोनों कानूनों पर यहाँ कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

२. विवाह

विवाह सामाजिक जीवन का आधार है। विवाह ही पारिवारिक जीवन के सुख तथा उसकी शान्ति का वास्तविक स्रोत है।

प्राचीन-काल में हमारे यहाँ विवाह की एक आदर्श प्रथा का जन्म हुआ था जिसके अनुसार स्त्री और पुरुष को विकास की समान सुविधायें प्राप्त थीं, दोनों के लिये समान नियम, समान कर्त्तव्य तथा समान अधिकार थे। इसलिये उस समय का समाज अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। कालान्तर में हमारी विवाह की प्रथा विकृत तथा दूषित हो गई। स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिये भिन्न-भिन्न नियम बनाये गये। दोनों को एक ही माप-दण्ड से मापने के स्थान में भिन्न-भिन्न पैमानों से मापा जाने लगा। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में प्रचलित इस दोहरे माप-दण्ड ने समाज में अनेकों गम्भीर बुराइयाँ उत्पन्न कर दीं जिनका निराकरण करना इस विवाह-अधिनियम का उद्देश्य है।

(क) **एक विवाह**—सबसे बड़ी बुराई जो पैदा हुई वह थी पुरुष के लिये बहु-विवाह की छूट। अब तक इस अधिनियम के बनने से पूर्व यह अवस्था थी कि पुरुष एक स्त्री के जीते-जी दूसरी शादी कर सकता था। पुरुष चाहता तो अनेकों विवाह करता चला जा सकता था और अनेकों स्त्रियों को अकारण घोर नारकीय जीवन बिताने के लिए बाध्य कर सकता था। कौन नहीं जानता कि किसी भी स्त्री के लिए अपनी आँखों के सामने अपने पति को दूसरा विवाह करते देखना विष पी लेने से भी अधिक दुखदायी है। सपत्नी के घर में आते ही पहिली पत्नी को घोर अपमानजनक जीवन बिताना पड़ता है। पुरुष के दूसरे विवाह का प्रभाव पहिली पत्नी के बच्चों पर भी इतना बुरा पड़ता है कि उनका सारा जीवन ही विशृङ्खलित और कुंठित हो जाता है। समस्त पारिवारिक जीवन को अव्यवस्थित तथा कड़वा बना देने वाली बहु-विवाह की यह प्रथा दो वर्ष पूर्व मई १९५४ में विवाह विधेयक के स्वीकृत हो जाने के साथ समाप्त हो गई। इसके

अनुसार पुरुष के ऊपर भी वही प्रतिबन्ध लग गया जो स्त्री पर था। जिस प्रकार स्त्री के लिए पति के जीवित रहते दूसरा विवाह त्याज्य माना जाता था उसी प्रकार पुरुष के लिए भी पहिली पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह करना त्याज्य हो गया। अब एक पत्नी के रहते यदि कोई पति दूसरी शादी करेगा तो वह कानून की दृष्टि में अपराधी और दण्डनीय माना जायेगा। इस प्रकार यह कानून स्त्री और पुरुष दोनों के लिए 'एक-विवाह' की अनिवार्यता को राजकीय नियम का रूप दे देता है। बहु-विवाह की प्रथा समाप्त होने से समाज में स्त्री और पुरुष के बीच जो विषमता थी, और उस विषमता के कारण स्त्री को जिन कठि-इयों का सामना करना पड़ता था, उन सब का अब अन्त होगा। स्त्री के वैवाहिक जीवन में एक सुरक्षा की भावन पैदा होगी, और उसका जीवन पहिले से अधिक सम्मानपूर्ण और सुखी बनेगा। इस नियम का परिणाम यह भी होगा कि हमारे समाज में अब तक जो अनमेल विवाह होते थे वे बहुत हद तक रुक जायेंगे। पुरुष को क्योंकि अनेकों शादियाँ करने का अधिकार था, उसे छोटी आयु की कुमारी कन्याओं से भी शादी कर लेने की छूट थी, जो अब भी है, इसलिए अक्सर साठ वर्ष के बूढ़े अट्ठारह-बीस वर्ष की कुमारी लड़कियों से विवाह करते पाये जाते थे। इन अनमेल विवाहों से भी समाज के अन्दर अनेकों भीषण बुरा-इयाँ पैदा होती थीं। अब इस 'एक-विवाह' सम्बन्धी कानून का परिणाम यह होगा कि समाज बहुत-से दोषों से मुक्त होकर उन्नति के मार्ग पर तीव्र गति से बढ़ सकेगा।

(ख) **अन्तर्जातीय विवाह**—विवाह-अधिनियम के द्वारा अन्य जो सुधार हुए उनमें से एक यह है कि अब हिन्दुओं के अन्तर्गत एक जाति के लोगों को दूसरी जाति में विवाह करना

अधिक सुविधापूर्ण हो जायेगा। अभी तक कानून 'अनुलोम' विवाहों को तो मान्यता देता था, 'प्रतिलोम' विवाहों को नहीं। ब्राह्मण का लड़का यदि क्षत्रिय की लड़की से शादी कर लेता तो वह वैधानिक तथा शास्त्र-सम्मत माना जाता था, किन्तु यदि ब्राह्मण की लड़की क्षत्रिय या वैश्य के लड़के से विवाह कर लेती, तो कानून उसे अवैध मानता था। इस प्रकार के 'प्रतिलोम' विवाह जब होते थे, तो उन्हें वैधानिक रूप देने के लिए 'सिविल मरिज एक्ट' की शरण लेनी पड़ती थी। अब जो परिवर्तन हुआ है उससे प्रतिलोम विवाह भी वैधानिक माने जायेंगे, अर्थात् यदि ब्राह्मण जाति की लड़की का विवाह क्षत्रिय के साथ या क्षत्रिय कन्या का विवाह वैश्य लड़के के साथ हो जाये, तो ऐसे विवाह की सन्तान को सम्पत्ति-सम्बन्धी सभी अधिकार प्राप्त होंगे। इससे अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिलेगा और जाति-प्रथा के, जो राष्ट्र की एकता में आज सबसे अधिक बाधक है, उन्मूलन का मार्ग खुल जायेगा।

(ग) **बाल-विवाह पर रोक**—बाल-विवाहों को रोकने के लिए अबतक 'शारदा एक्ट' सबसे प्रगतिशील कानून माना जाता था। 'शारदा एक्ट' के अनुसार विवाह की न्यूनतम सीमा लड़की के लिए १४ वर्ष और लड़के के लिए १६ वर्ष थी। किन्तु वर्त्तमान 'विवाह-अधिनियम' के अनुसार यह सीमा लड़की के लिए १५ और लड़के के लिए १८ कर दी गई है। इसके अनुसार १५ वर्ष से कम आयु की कन्या की या १८ वर्ष से कम आयु के लड़के की शादी होती है तो वह दण्डनीय समझी जायेगी और ऐसी शादी के कराने वाले अभिभावक अपराधी माने जायेंगे। हमारी दृष्टि से तो आयु की यह सीमा भी कम ही रक्खी गई है। विवाह की न्यूनतम आयु लड़की की १८ वर्ष से और लड़के की २५ वर्ष से

कम नहीं होनी चाहिये । विवाह की आयु जितनी ऊँची होगी, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से हमारी भावी सन्तति उतनी ही स्वस्थ तथा विकसित होगी । इसके अतिरिक्त आजकल की दिनोंदिन बढ़ती जन-संख्या पर भी वह प्रतिबन्ध का काम करेगी । हमें आशा है, हमारे विधान-निर्माता इस अधिनियम द्वारा निर्धारित विवाह की उपरोक्त न्यूनतम आयु से ही सन्तुष्ट न हो जायेंगे, अपितु शीघ्र ही इसमें उचित परिवर्त्तन करने के लिए उपयुक्त संशोधन लायेंगे।

इस प्रकार वर्त्तमान 'विवाह-अधिनियम' विवाह के क्षेत्र में उठती हुई अनमेल तथा बाल-विवाह जैसी अनेक ज्वलन्त समस्याओं का समाधान कर सकेगा। किन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस क्षेत्र में जिन सुधारों की आवश्यकता थी वे सभी इस कानून से पूरे हो जायेंगे। इसके उपरान्त भी हमारी दृष्टि में अभी सुधार की काफ़ी गुंजाइश है। उदाहरणार्थ, विधुर के कुमारी कन्या से विवाह की प्रथा जो इस समय शिक्षित समाज तक में है, समाज के अन्दर कई जटिलतायें उत्पन्न कर देती है। इस समय ४०–५० वर्ष का विधुर यदि चाहे तो १८-२० वर्ष की कुमारी कन्या से विवाह कर सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका परिणाम न तो कुमारी कन्या पर ही अच्छा पड़ता है, और न ही विधुर के बच्चों पर। इसके अतिरिक्त समाज में जो विधवायें हैं, उनके लिए पुनर्विवाह करना एक विषम समस्या बन जाती है, क्योंकि विधुर को जब कुमारी कन्या सरलता से मिल जाती है, तो वे विधवा से विवाह करना नहीं चाहते। इन सब विषम परिणामों का निराकरण करने का यही उपाय था कि कानून द्वारा विधुर के कुमारी कन्या से विवाह पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिया जाता। जिस समय विवाह विधेयक पर संसद् में

विचार हो रहा था तब हमने इस आशय का एक संशोधन प्रस्तुत भी किया था जिसका अभिप्राय यह था कि विधुर केवल विधवा से और विधवा केवल विधुर से ही विवाह कर सके—ऐसी एक शर्त और विवाह की शर्तों में जोड़ दी जाये। किन्तु इस प्रकार की शर्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कड़ा प्रतिबन्ध होगा—ऐसा कहकर सदन में यह संशोधन गिरा दिया गया। यदि उपरोक्त संशोधन मान लिया जाता, तो इसअ धिनियम में जो अधूरापन रह जाता है वह न रहता। हमें विश्वास है कि निकट भविष्य में ही वह समय आयेगा जब कि विवाह-कानून के इस दोष को निकाल दिया जायेगा।

३. सम्बन्ध-विच्छेद (तलाक़)

विवाह एक अटूट और धार्मिक सम्बन्ध है—यह विचार-परम्परा हमारे समाज में बहुत देर से चली आ रही है। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक सुन्दर और ऊँची कल्पना है, किन्तु अपने समाज में इस सिद्धान्त का पालन गत कई शताब्दियों से एक पक्ष की ओर से ही हुआ, दूसरा पक्ष तो निरन्तर इसका उल्लंघन ही करता रहा। जहाँ तक स्त्री का सम्बन्ध रहा, वहाँ तक तो विवाह एक पवित्र सम्बन्ध माना जाता रहा, किन्तु जब पुरुष का प्रश्न आया, तो उसने इस आदर्श को उठाकर ताक में रख दिया। पुरुष ने चाहा तो एक के बाद एक विवाह करता रहा और एक नहीं, अनेकों बार विवाह के 'अटूट' कहे जाने वाले सम्बन्ध को तोड़ता रहा। इसके विपरीत स्त्री को किसी भी भयंकर-से-भयंकर परिस्थिति में हमारा कानून पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं देता रहा। इस एकपक्षीय आदर्शवादिता का परिणाम समाज के लिए अत्यन्त हानिकर हुआ। एक ओर पुरुष की इस स्वेच्छा-

चारिता से तथा दूसरी ओर स्त्री पर कठोर प्रतिबन्धों के लगाने से समाज का शान्त वातावरण विक्षुब्ध तथा दूषित हो उठा। इस सारी परिस्थिति में विवाह-सम्बन्धों की पवित्रता की रक्षा के हेतु ही यह आवश्यक हो गया कि विवाह के कानून में समयानुकूल परिवर्तन और संशोधन किये जायें। यह वह पृष्ठभूमि है जिसमें 'विवाह-अधिनियम' सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक़ की व्यवस्था करता है।

तलाक सम्बन्धी धारा इस अधिनियम की सबसे अधिक विवादास्पद धारा है किन्तु जितना भी विवाद है वह भ्रम के कारण है। यह समझा जाता है कि तलाक़ की छूट मिलते ही हर-कोई अपने जीवन साथी को तलाक़ देने चल पड़ेगा। ऐसी स्थिति में विवाह की संस्था का नाश हो जायेगा, समाज में अव्यवस्था फैल जायेगी, धर्म का लोप हो जायेगा। किन्तु यह सब भ्रम है क्योंकि इस अधिनियम के अनुसार किन्हीं विशेष ही परिस्थितियों में और कठोर प्रतिबन्धों के अन्दर तलाक़ का अधिकार दिया गया है। सर्वसाधारण की जानकारी के लिए यहाँ उन अवस्थाओं तथा परिस्थितियों का वर्णन कर देना उचित प्रतीत होता है जिनमें इस कानून के अनुसार सम्बन्ध-विच्छेद की व्यवस्था की गई है। वे अवस्थायें निम्न हैं :—

(क) यदि पति पत्नी दोनों में से कोई एक व्यभिचारपूर्ण जीवन बिता रहा हो, तो दूसरा उसे तलाक़ दे सकता है।

(ख) दोनों में से एक यदि हिन्दू धर्म छोड़ कर अन्य धर्मावलम्बी हो जाये, तो दूसरे को उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार होगा।

(ग) यदि पति या पत्नी दोनों में से कोई एक तलाक़ की अर्ज़ी देने के समय पिछले तीन साल से असाध्यरूप से पागल रहा

हो, तब भी दूसरे पक्ष को तलाक़ की आज्ञा मिल सकती है।

(घ) यदि पति या पत्नी में से कोई भयंकर और असाध्य कुष्ठ रोग से अथवा संक्रामक यौन रोग से पीड़ित हो, और लगातार तीन वर्ष तक इलाज करने पर भी ठीक न हुआ हो, तो दूसरे पक्ष को तलाफ़ का अधिकार होगा।

(ङ) यदि दोनों पक्षों में से कोई एक सांसारिक जीवन छोड़ कर वैरागी हो गया हो, तो दूसरे पक्ष को तलाक़ माँगने का अधिकार होगा।

(च) दोनों पक्षों में से यदि कोई सात साल तक लापता रहे, तो दूसरा पक्ष तलाक़ का प्रस्ताव कर सकेगा।

(छ) इस अधिनियम के लागू होने से पूर्व यदि किसी पुरुष ने दूसरी शादी कर ली है और उसकी पहिली स्त्री जीवित है, तो पहिली स्त्री को अधिकार होगा कि वह अपने पति को तलाक़ देकर अपने दुखी जीवन से मुक्त हो जाये।

(ज) विवाह हो चुकने के तीन साल बाद ही तलाक़ के लिए आवेदन-पत्र दिया जासकेगा, इससे पूर्व नहीं। तलाक़ मिल जाने के भी एक साल बाद तक कोई पुनर्विवाह न कर सकेगा

उक्त अवस्थाओं को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तलाक़ की जो शर्तें रखी गयी हैं, वे काफ़ी कठोर हैं, और इनके रहते सम्बन्ध-विच्छेद करना कोई हंसी-खेल न होगा। स्त्री-पुरुष बहुत विवशता की हालत में ही इस अधिकार का प्रयोग करेंगे क्योंकि जो लोग विवाह करते हैं वे एक-साथ रहकर सुखमय जीवन बिताने के विचार से ही इस बन्धन में बन्धते हैं। विवाह की संस्था को तलाक़ से किसी प्रकार का खतरा नहीं है, क्योंकि विवाह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर आधारित है और इसलिए वह किन्हीं बाह्य साधनों से नष्ट नहीं हो सकता।

तलाक़ की प्रथा अपने देश के लिए बिल्कुल नई चीज़ भी नहीं है। इस समय भी ७५ प्रतिशत जनता में यह प्रचलित है। यह बात दूसरी है कि इस समय यह अधिकतर वर्ण-रहित जातियों तक ही सीमित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों में इस प्रथा का समावेश प्रथम बार इस अधिनियम द्वारा ही होगा। इस समय निम्न जातियों के अन्दर तलाक़ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रचलित है—कहीं 'छूट' की शकल में और कहीं दूसरे किसी रूप में। वर्त्तमान कानून तलाक़ के भिन्न रूपों में एकरूपता लायेगा—उन्हें एक दृढ़ सुव्यवस्था में बान्ध देगा और जहाँ अब छोटी जातियों में मामूली-सी बातों पर तलाक़ हो जाता है, वैसा न होकर ऊपर वर्णित की गई कठोर अवस्थाओं में ही छोटी तथा बड़ी जातियों में तलाक़ हो सकेगा।

सम्बन्ध-विच्छेद को कानूनी स्वीकृति मिल जाने का प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर स्वास्थ्यकर पड़ेगा। अब स्त्री को व्यभिचारी, पागल, घृणित रोगों से पीड़ित पति के साथ इच्छा के विरुद्ध रहने को मजबूर न होना पड़ेगा। आत्मनिर्णय का मानवोचित अधिकार स्त्री को प्राप्त हो जाने पर उसके अन्दर मानवीय गुणों का विकास हो सकेगा। स्त्री और पुरुष के बीच विषमता की खाई को पाटने में भी यह अधिकार सहायक सिद्ध होगा। अभी तक तराज़ू का एक पलड़ा ऊँचा और एक नीचा था। अब दोनों पलड़े बराबर के स्तर पर आ जायेंगे और समाज में विषमता का लोप होने से सुख तथा शान्ति का उदय होगा।

४. उत्तराधिकार

उत्तराधिकार का कानून विवाह कानून से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्त्री 'विवाह-अधिनियम' द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं

का लाभ आर्थिक अधिकारों को प्राप्त करके ही उठा सकती है। 'उत्तराधिकार अधिनियम' स्त्री को सम्पत्ति सम्बन्धी कई महत्त्व पूर्ण अधिकार देता है। अभी तक स्त्री को सम्पत्ति में किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं था। वह आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया पराधीन थी। जीवन के हर क्षेत्र में उसे अपने भरण-पोषण के लिए पुरुष का आश्रय लेना पड़ता था। "पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने, पुत्राः रक्षन्ति वार्धक्ये न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" ––अर्थात्, स्त्री को स्वतन्त्र नहीं रहना है, उसे सदा पिता, पति तथा पुत्र के आधीन ही रहना उचित है। इस शास्त्र-वाक्य पर ही हमारा अबतक का उत्तराधिकार-कानून आधारित था। इस पराधीनता से स्त्री की परिवार तथा समाज में स्थिति बहुत नीचे गिर गई। उसका सामाजिक ही नहीं, नैतिक अधःपतन भी हुआ। अधःपतन के इस गर्त से स्त्री को निकालने का एक ही मुख्य उपाय था। वह उपाय यही था कि स्त्री को आर्थिक स्वतन्त्रता मिले। यह उत्तराधिकार-कानून सम्पत्ति-सम्बन्धी इस आवश्यक अधिकार को स्त्री को प्रदान करके उसकी चहुंमुखी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। इसके अनुसार स्त्री को पुत्री, पत्नी तथा माता के रूप में सम्पत्ति-विषयक जो अधिकार मिले हैं वे निम्न हैं:––

(क) **पत्नी के रूप में**––स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में अधिकार देने का पहिला कानून १९३७ में बना जिसके अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र और पुत्रियों के साथ उसकी विधवा स्त्री को भी बराबर का हिस्सा मिलता था। किन्तु इस कानून के अनुसार विधवा का अपने हिस्से पर पूर्ण स्वत्व नहीं था। वह इस प्रकार प्राप्त की हुई अपनी जायदाद को अपनी इच्छानुसार नहीं बर्त्त सकती थी। दान में या उपहार में उसे नहीं दे

सकती थी, इस सम्पत्ति को बेचने का भी उसे अधिकार न था। अब यह उत्तराधिकार कानून विधवा स्त्री को अपनी जायदाद पर सीमित नहीं पूर्ण अधिकार प्रदान करता है। अब वह जिस प्रकार चाहेगी अपने हिस्से की जायदाद का उपयोग कर सकेगी। सन्तान न होने की दशा में वह पूर्ण जायदाद की मालिक होगी। अगर वह पुनर्विवाह कर लेगी, तो वह सम्पत्ति उसकी न रहकर यदि सम्पत्ति पति से मिली थी तो पति के परिवार को, और अगर पिता से मिली थी तो पिता के परिवार को लौट जायेगी।

(ख) **माता के रूप में**—भारत के दक्षिण-पश्चिम भाग में प्रचलित 'मरूमकटय्यम'- कानून को छोड़कर भारत की अन्य किसी भी दाय-प्रणाली के अनुसार माता का पुत्र की सम्पत्ति में अब तक कोई भाग नहीं था। पुत्र की मृत्यु के बाद माता को अपनी पुत्र-वधू की दया पर आश्रित रहना पड़ता था। सास-बहू के सम्बन्ध थोड़े ही परिवारों में स्नेहपूर्ण होते हैं। ऐसी परि-स्थिति में उसका जीवन बहुधा दुःखमय बन जाता है। माता को पुत्र-वधू और पौत्र-पौत्रियों की दृष्टि में एक प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करने की दृष्टि से माता को भी पुत्र की सम्पत्ति में उसके पुत्र-पुत्रियों तथा पत्नी के समान एक भाग यह अधिनियम देता है।

(ग) **पुत्री के रूप में**—इस समय भारत में मुख्यतया दो दाय-प्रणाली प्रचलित हैं। 'दाय-भाग' बंगाल में तथा पंजाब के कुछ हिस्सों में चलता है, और भारत के शेष लगभग दो-तिहाई भाग में 'मिताक्षरा' प्रचलित है। किन्तु इन दोनों में से किसी में भी पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार नहीं माना जाता। हाँ, भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट पर ट्रावनकोर, कोचिन आदि में जहाँ 'मरुमकटय्यम' का कानून प्रचलित है, वहाँ पुत्री को पिता

की सम्पत्ति में पुत्र के बराबर ही हिस्सा मिलता है, किन्तु देश के शेष भागों में जहाँ 'दाय-भाग' तथा 'मिताक्षरा'-प्रणाली प्रचलित हैं, अभी तक पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार कानून नहीं मानता। अब यह अधिनियम मिताक्षरा तथा दाय-भाग प्रणाली के क्षेत्रों में भी पुत्री को पिता की 'पुश्तैनी' तथा 'स्वार्जित' दोनों प्रकार की सम्पत्ति में हिस्सा देता है। पिता की स्वार्जित सम्पत्ति में तो लड़की को लड़के के बराबर हिस्सा मिलेगा। लेकिन पुश्तैनी जायदाद में लड़की को अपने पिता के हिस्से में से ही एक हिस्सा मिलेगा, कुल जायदाद में से नहीं। यह हिस्सा जो उसे पुश्तैनी जायदाद में अपने पिता के भाग में से मिलेगा, लड़के के बराबर ही होगा। फिर भी मिताक्षरा के अनुसार कुल मिलाकर पैत्रिक-सम्पत्ति में लड़की को लड़के की अपेक्षा बहुत कम मिलेगा। हाँ, दाय-भाग में जहाँ पुश्तैनी तथा स्वार्जित जायदाद का कोई भेद नहीं किया जाता लड़की को लड़के के बराबर ही हिस्सा मिलेगा। परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि 'दाय-भाग' की प्रणाली मुश्किल से देश के एक-चौथाई हिस्से में प्रचलित है।

वर्त्तमान उत्तराधिकार अधिनियम के अनुसार मिताक्षरा तथा दाय-भाग प्रणाली के अन्तर्गत लड़की, लड़के, विधवा-पत्नी तथा माता को किस-प्रकार हिस्सा मिलेगा, यह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा :—

(१) **मिताक्षरा के अनुसार**—मान लीजिये कि (क) कुल २०,०००) की सम्पत्ति छोड़कर मरता है। इसमें १५,०००) की पत्रिक (पुश्तैनी) सम्पत्ति है, और ५०००) उसकी अपनी कमाई या स्वार्जित सम्पत्ति है। उसके दो पुत्र (ख) और (ग) हैं, एक पुत्री (च) है, जीवित विधवा पत्नी (प) है और जीवित

माता (म) है। अब मृत व्यक्ति (क) की जो अपनी कमाई हुई स्वार्जित-सम्पत्ति ५,०००) है, वह तो (ख) (ग) (च) (प) और (म) पाँचों में बराबर बँट जायेगी, और दोनों लड़कों, लड़की, विधवा तथा माता में प्रत्येक को १०००) मिल जायेगा, लेकिन मृत व्यक्ति (क) की पैत्रिक (पुश्तैनी) जायदाद में ऐसा नहीं होगा। १५०००) की जो पुश्तैनी जायदाद है, वह पहिले केवल लड़कों और पिता में बंटेगी, अर्थात् उसके तीन हिस्से होंगे क्योंकि अपने अलावा उसके दो पुत्र हैं। इस प्रकार (क) (ख) (ग) में से हरेक को ५०००) मिलेंगे। अब, मृत पिता (क) के हिस्से जो ५०००) पड़ा उसमें लड़की, उसकी पत्नी और उसकी माता को हिस्सा मिलेगा। परन्तु स्मरण रखने की बात यह है कि उसके दोनों लड़कों को, यदि वे पिता से अलग नहीं हो चुके हैं, तो पिता के इस ५०००) में से दूसरों के बराबर का हिस्सा इन्हें और मिलेगा। इस प्रकार इस पुश्तैनी १५०००) में से दोनों पुत्रों (ख) और (ग) को ६०००), पुत्री (च) को १०००), जीवित विधवा (प) को १०००) तथा जीवित माता (म) को १०००) मिलेगा। यह भी ध्यान रखने की बात है कि यदि (ख) या (ग) पिता से अलग हो चुका है, तो विभक्त हुए (ख) या (ग) को मृतक पिता (क) के हिस्से में से दुबारा कोई भाग न मिलेगा।

(२) **दाय-भाग के अनुसार**—दायभाग में, जहाँ पैत्रिक और स्वार्जित सम्पत्ति दोनों में एक ही नियम लगता है, मृतक पिता (क) की १५०००) पुश्तैनी तथा ५०००) स्वार्जित जायदाद को एक साथ मिलाकर (ख), (ग), (च), (प) तथा (म) में बराबर बाँट दिया जायेगा। अर्थात्, दायभाग में लड़के, लड़की, विधवा और माँ सबको बराबर-बराबर ४०००) मिलेगा।

उपरोक्त उदाहरण से ज्ञात होगा कि मिताक्षरा के अन्तर्गत पुश्तैनी जायदाद में लड़की को लड़के से काफ़ी कम हिस्सा मिलता है। इसके अतिरिक्त मिताक्षरा में लड़की के हिस्से पर कुछ और भी प्रतिबन्ध लगाये गए हैं जिनका आशय यह है कि पुश्तैनी जायदाद का अनावश्यक विभाजन न होने पाये। उदाहरणार्थ, लड़की अपनी ओर से जायदाद के अपने हिस्से का प्रश्न नहीं उठा सकती, लड़के जायदाद का बटवारा करेंगे तभी उसको अपना हिस्सा अलग मिल सकेगा। वह अपना हिस्सा किराये पर नहीं उठा सकेगी, उसे बेच नहीं सकेगी, सिर्फ़ उसमें स्वयं रह भर सकेगी। यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि पुत्री को पैत्रिक-सम्पत्ति में जो अधिकार मिला ह, वह केवल उस सम्पत्ति में मिला है जिसको उसका पिता बिना वसीयत किये छोड़ गया है। पिता वसीयत द्वारा पुत्री को कुछ भी हिस्सा न दे—यह भी उसे अधिकार है। पिता की सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए हैं उनका मुख्य अभिप्राय संयुक्त-परिवार-प्रथा की रक्षा करना है। परन्तु मिताक्षरा-परिवार रूपी भवन में आज जगह-जगह तरेड़ आ चुकी है। उसे अब वचाया नहीं जा सकता। आज से सौ-साल पहिले जो आर्थिक और सामाजिक अवस्थायें थीं, वे आज बदल चुकी हैं। सौ साल पहिले 'परिवार' समाज की इकाई था, आज 'परिवार' नहीं 'व्यक्ति' समाज की इकाई है। आज यदि कोई भी प्रथा व्यक्ति के विकास को रोकती है, तो उस प्रथा को व्यक्ति के हित की रक्षा के लिए ख़तम कर देना होगा। आज की हमारी परिस्थितियों में मिताक्षरा-प्रणाली जो स्त्री-पुरुष के भेद पर खड़ी है, मेल नहीं खाती। इसी कारण अधिकांश विधान-निर्माताओं के विचार से दायभाग-प्रणाली ही अपने देश के लिए अधिक

उपयुक्त है। इसीलिए हिन्दू-कोड-बिल जब प्रथम वार संविधान-सभा में पेश हुआ था, तो उसमें मिताक्षरा को समाप्त ही कर दिया गया था, और समस्त देश में दायभाग-प्रणाली को प्रचलित कर देने की सिफ़ारिश की गई थी। दुर्भाग्य से यह बात स्वीकृत न हो सकी। हमें आशा ह कि शीघ्र ही हमारे विधान-निर्माता इस अधिनियम में या दूसरा कोई विधेयक लाकर स्त्री तथा पुरुष के उत्तराधिकार सम्बन्धी इस भेद को मिटाने का प्रयत्न करेंगे।

५. उपसंहार

हिन्दू-कोड का मुख्य उद्देश्य स्त्री को सामाजिक तथा आर्थिक अधिकार देकर उसकी सम्पूर्ण अवस्था को समुन्नत करना है। यद्यपि इस समय स्त्री को राजनीतिक क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त हो चुके हैं, तथापि जब तक उसे सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी पुरुष के समान अधिकार नहीं मिल जाते तब तक वह पूर्णरूप से विकास तथा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकती और, जबतक स्त्रियों के रूप में देश की आधी जनता पिछड़ी और पराधीन रहती है, तबतक हमारे नेताओं का समाजवादी समाज को स्थापित करने का प्रश्न मूर्तरूप नहीं ले सकता। इसी भूमिका में 'विवाह' तथा 'उत्तराधिकार' अधिनियमों का असली महत्त्व है, क्योंकि ये इस समय तक पिछड़ी हुई, अत्याचारों से पीड़ित तथा अधिकार-शून्य स्त्री को शक्ति-सम्पन्न बनाने की दिशा में एक बड़ा ठोस कदम उठाते हैं। विवाह-कानून से स्त्रियों के पारिवारिक-जीवन में एक सुरक्षितता की भावना आयेगी, और साथ ही स्त्रियों को भी विशेष अवस्थाओं में सम्बन्ध-विच्छेद की सुविधा मिल जाने से वे भी पुरुषों के साथ समान स्तर पर आ खड़ी होंगी। वैवाहिक-जीवन की सफलता जीवन-

क्षेत्र में दोनों के सम-कक्ष होकर प्रवेश करने में है। विवाह-कानून नारी को जो स्वतन्त्रता सामाजिक-क्षेत्र में प्रदान करता है, वही स्वतन्त्रता उत्तराधिकार कानून नारी को आर्थिक-क्षेत्र में देता है। आज हज़ारों सालों बाद इस कानून के द्वारा प्रथम बार नारी के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों को मान्यता मिली है। उन अधिकारों को प्राप्त करने के साथ भारतीय-नारी इतिहास के एक सुनहरे युग में प्रवेश करती है। इन अधिकारों के सीमित रहते हुए भी इन्हें "भारतीय-नारी के अधिकारों का घोषणा-पत्र" (Charter of the Rights of Indian Women) कहा जा सकता है।

१६

भविष्य

हमने देख लिया, भारत की नारी का जीवन उसके ग़ुलाम होने का एक जीता-जागता नमूना है। इसमें सन्देह नहीं कि कोई समय था, जब उसकी समाज में स्थिति ऊँची थी, वह पुरुष के समान समाज की एक आवश्यक अंग थी। परंतु वह समय केवल भारत के वैदिक-युग में था, और स्त्री के लिए वही स्वर्णीय-युग था। उसकी झलक प्राचीन साहित्य में ही रह गई ह। उसके बाद स वह संसार के किसी कोने में स्वतंत्र नहीं दिखाई देती। योरप में १८वीं शताब्दी के अंत तक स्त्री परतंत्र थी, ग़ुलाम थी। यह बात ठीक है कि १७वीं शताब्दी में फ़ेने-लौन तथा मडाम डी मेंटेनौन ने फ्रांस में स्त्री-शिक्षा-संबंधी कुछ कार्य प्रारंभ किया था, परन्तु उनका आदर्श भी स्त्री को मानसिक-क्षेत्र में आज़ादी देने का नहीं था। उन्होंने स्त्री को संसार के प्रति सर्वथा उदासीन हो जाने का पाठ पढ़ाया। उनके लिए जो पाठशालाएँ खोलीं, उनमें वे संसार में रहती हुई भी संसार से अलग थीं। दो लड़कियाँ आपस में बात नहीं कर सकती थीं। उनके आगे-पीछे अध्यापिकाएँ चलती थीं, जो इस बात पर ध्यान रखती थीं कि कहीं बालिकाएँ चलते-फिरते किसी समय आपस में बात न कर लें। इस चुप्पी में, कानाफूसी में, वे लड़कियाँ सालों बिता देती थीं। इस प्रकार की शिक्षा तो स्त्री के लिए दासता से भी बुरी थी। योरप में स्त्री उस

दासता से निकलकर अब स्वतंत्र हो गई है। उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का अधिकार लगभग माना जा चुका है। परन्तु भारतवर्ष में स्त्री ग़ुलामी से निकलने की इस लड़ाई में अभी बहुत पीछे है। काग़ज़ पर अधिकार मिल जाने पर भी उसके साथ अब भी बहुत अंश तक ग़ुलामों का-सा ही बर्ताव हो रहा है। पुरुष के लिए जो क्षेत्र खुल रहे हैं, स्त्री के लिए वे सब सदियों तक बंद रहे हैं। स्त्री से जो आशाएँ की जाती हैं, स्त्री के सामने जो आदर्श रक्खे जाते हैं, पुरुष से न तो वे आशाएँ ही की जाती हैं, और न उन आदर्शों का सौवाँ हिस्सा भी उसके जीवन में पाया जाता है। ज़ेवर, पर्दा—सब स्त्री के शरीर पर उसकी ग़ुलामी की निशानियाँ हैं। स्त्री-शिक्षा का कुछ-कुछ प्रचार हो चला है, परन्तु अग्रगामी घरानों को छोड़कर अब भी स्त्री के लिए शिक्षा फ़िज़ूल-सी समझी जाती है। ग़रीब घराने में स्त्रियों की स्थिति जानवरों से बढ़कर नहीं है, अमीर घरानों में वे अब भी घर में एक अलङ्कार बनकर रहती हैं—इससे ऊँची स्थिति काग़ज़ों में भले ही स्त्री को मिल गई हो, परन्तु क्रियात्मक रूप में अभी उसे नहीं मिली। स्त्री तथा पुरुष में भेद है, इससे कोई इनकार नहीं करता, परंतु भेद होना और बात है, और ऊँच-नीच का भाव होना दूसरी बात है। स्त्री तथा पुरुष में भेद होते हुए भी समाज की दृष्टि में दोनों बराबर हो सकते हैं। अब तक हमारे समाज की रचना स्त्री तथा पुरुष के शारीरिक भेद पर आश्रित नहीं रही; हमारे समाज का निर्माण तो इस बात पर हुआ है कि स्त्री पुरुष की अपेक्षा अत्यंत निचले दर्जे की प्राणी है, स्त्री तथा पुरुष की मानसिक योग्यता के क्षेत्र में बराबरी हो ही नहीं सकती, पुरुष स्वभाव से ऊँचा और स्त्री स्वभाव से नीची है। अब तक हमारा समाज स्त्री को अपनी क्रीत-

दासी ही समझता रहा है। विवाह, ज़ेवर, पर्दा, शिक्षा, बर्ताव, स्थिति---इन सब में स्त्री के जीवन पर ग़ुलामी की एक अमिट छाप दिखाई देती है। ये शुभ लक्षण हैं कि स्त्री-समाज अब इस भावना के विरुद्ध भड़क रहा है। मैं तो समझती हूँ कि उसे अभी और अधिक भड़काने की ज़रूरत है। इस समय तक हमारे समाज में स्त्रियों की जो स्थिति रही है, उसे देखकर किसी आत्म-सम्मान वाली स्त्री के लिए चुपचाप, हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना संभव नहीं जान पड़ता। इस स्थिति में परिवर्तन होना आवश्यक है, और वह भी मौलिक परिवर्तन, साधारण परिवर्तन से काम नहीं चलेगा। आज पढ़ी-लिखी स्त्रियों के हृदय में परिवर्तन की जो प्रबल आकाँक्षा उत्पन्न हो गई है, उसका एकमात्र कारण यही है कि वे सदियों की इस ग़ुलामी को अब देर तक नहीं देख सकतीं। इसी परिवर्तन की तरफ़ उदीयमान स्त्री-समाज बड़े उत्सुकता-पूर्ण नेत्रों से टकटकी लगाए देख रहा है।

आज स्त्री-समाज की विचित्र अवस्था है। कल्पना कीजिए कि एक स्त्री घोड़े पर चढ़कर सैर करने को निकल जाती है। उसे यह नया काम करते देखकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हृदय में भिन्न-भिन्न भाव उठने लगते हैं। पुरुष-समाज, जो स्त्री को अब तक मकान में बंद रखने का आदी है, उसकी तरफ़ आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगता है। अनेक पुरुष इस बात को सोच भी नहीं सकते कि स्त्री भी घोड़े की सवारी कर सकती है। उनके लिए यह बात एक अनहोनी घटना है। पुराना स्त्री-समाज भी इन्हीं विचारों में पला है, इसीलिए हमारी वृद्धा माताएँ भी किसी युवति को घोड़े पर सवारी करते हुए देखकर आश्चर्य करने लगती हैं। उनकी सम्मति में तो आजकल की

लड़कियाँ कुल को कलंक लगा रही हैं, बेशर्म होती चली जा रही हैं। परंतु अगर सवारी करनेवाली बहन से कहा जाय कि तुम्हारे विषय में तुम्हारे बुज़ुर्गों की यह राय है, तो क्या वह यह नहीं पूछ सकती कि उसे घोड़े की सवारी करने का अधिकार क्यों नहीं है? क्यों इस काम के लिए उसे निर्लज्ज कहा जाता है? अगर लड़का घोड़े की सवारी कर सकता है, तो लड़की क्यों नहीं कर सकती? अगर लड़की के लिए यह काम बेशर्मी का है, तो लड़के के लिए क्यों नहीं? कौन कह सकता है कि ये प्रश्न ठीक नहीं है? परन्तु क्या हम इन प्रश्नों का कोई उचित उत्तर दे सकते हैं? और, अगर हम इनका उचित उत्तर नहीं दे सकते, तो क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि स्त्रियाँ इस आज़ादी के ज़माने में, यों ही ताले में बंद होकर बैठी रहेंगी? इसी का नतीजा है कि वर्तमान समाज में नवीन विचारों में पली हुई लड़कियाँ न तो इस बात पर आश्चर्य करती हैं कि उनकी एक बहन घोड़े की सवारी कैसे कर सकती है, और न उनके हृदय में उस बहन के विषय में निर्लज्ज होने का भाव ही उत्पन्न होता है। उनके हृदय में तो केवल यही भाव उत्पन्न होता है जैसे यह घोड़े पर चढ़ रही है, वैसे हम भी चढ़ें, हमें भी ऐसा मौक़ा मिले। इन विचारों में कोई अस्वाभाविकता नहीं है। आख़िर स्त्रियाँ भी तो मनुष्य हैं। उन्हें अब तक ज़बर्दस्ती एक संकुचित क्षेत्र में रक्खा गया है, इसीलिए तो उनके विचार संकुचित हो गए दिखलाई पड़ते हैं। इस संकुचित क्षेत्र से वे निकल जाँय, तो वे क्यों न उसी प्रकार सोचने लगें, जिस प्रकार अब तक पुरुष-समाज सोचता रहा है। अगर किसी लड़के को लड़कियों के-से वायु-मंडल में बंद करके रखा ज ाय, तो वह भी तो परिस्थितियों का शिकार हो जाता है। वह वैसा ही शर्मीला, वैसा ही परा-

श्रित हो जाता है। पुराने और नए ज़माने में यह भेद है कि इस समय स्त्रियाँ उस तङ्ग दायरे को छोड़ रही हैं, जिसमें वे अब तक पड़ी रही हैं। पहले स्त्रियाँ परतंत्रता में सारी आयु बिता सकती थीं, अब वे स्वतंत्रता की पवन के एक झोंके को पाकर भी पंख-कटे पक्षी की तरह फड़फड़ाने लगती हैं। अवस्थाओं के बदल जाने से स्त्री की प्रकृति भी बदलती जा रही है। ये विचार शिक्षा के साथ ही फैल रहे हों, ऐसी बात नहीं है। अशिक्षिता बहनों में भी ये विचार घर करते चले जा रहे हैं। भेद इतना ही है कि शिक्षित बहनें अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने को भी तैयार हो जाती हैं, अशिक्षिता बहन परिस्थितियों को अपने विरुद्ध देखकर शर्मा जाती हैं, साहस नहीं बटोर पातीं। अपने बंधनों को तोड़ डालने की उत्कट अभिलाषा प्रत्येक नवयुवति के हृदय में उत्पन्न हो गई है, चाहे वह शिक्षिता हो, चाहे अशिक्षिता, चाहे अवस्थाएँ उसके अनुकूल हों, चाहे प्रतिकूल !

जो बात घोड़े की सवारी के संबंध में है, वही जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी है। जिन कामों को केवल पुरुष किया करते थे, उन्हें अब स्त्रियों ने भी करना शुरू कर दिया है। पुरुष-समाज, जो अब तक स्त्रियों को इन कामों के अयोग्य समझता था, स्त्री में इन परिवर्तनों को देखकर अब दाँतों-तले उँगली दबा रहा है; हमारा पुराना स्त्री-समाज जो अब तक पुरुष-समाज द्वारा पढ़ाए हुए ग़ुलामी के विचारों को अपना स्वभाव-सा समझने लगा था, इन परिवर्तनों को देखकर घबराने लगा है; परन्तु वर्तमान नवयुवकों तथा नवयुवतियों का समाज इन परिवर्तनों को स्त्री के अच्छे दिन फिर आने का शुभ लक्षण समझ रहा है, और पुरुष-समाज द्वारा स्त्री-समाज पर किए गए आज तक के सामूहिक

अत्याचारों को याद करके रोष कर रहा है। आजकल के विचारों में पली हुई किसी भी स्त्री की समझ में नहीं आ सकता कि स्त्रियों को प्रत्येक काम में वह आज़ादी क्यों न हो, जो पुरुषों को है; स्त्री की समाज में वही स्थिति क्यों न हो, जो पुरुषों की है? क्यों पुरुषों को मालिक समझा जाय, क्यों स्त्रियों को ग़ुलाम समझा जाय? क्या यह बात ठीक नहीं कि जब तक स्त्री की ग़ुलामी के भाव समाज में प्रबल थे, तब तक स्त्री अयोग्य और असमर्थ थी, पुरुष के मुक़ाबिले में नहीं आ सकती थी, पुरुषों से शारीरिक तथा मानसिक क्षेत्र में बहुत नीची थी। आज ज्यों-ज्यों वे भाव नष्ट होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों स्त्रियों की अयोग्यता और असमर्थता भी दूर होती जा रही है। वे पुरुषों के मुक़ाबिले में आकर कई बातों में पुरुषों को भी पछाड़ती चली जा रही हैं। अगर प्रकृति ने ही पुरुष तथा स्त्री में कोई ऐसा भेद रख दिया होता, जिससे समाज में स्त्री की स्थिति पुरुष से नीची ही रहनी होती, तो आज योरप में स्त्रियाँ प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के मुक़ाबिले में आकर जो-कुछ कर रही हैं, वह-सब न कर सकतीं। इस बात को पुरुष तथा स्त्री दोनों समझने लगे हैं, और इसके समझने के साथ-साथ स्त्री की स्थिति और उसका भविष्य बिलकुल नया रूप धारण करते चले जा रहे हैं।

जिसने स्त्री की भूत की कहानी का गहराई से अध्ययन किया है, वह यह कहे बिना रह नहीं सकता कि अब तक स्त्री के साथ जो अत्याचार का बर्ताव होता रहा है, भविष्यत् उसी की प्रतिक्रिया का परिणाम होगा। वह प्रतिक्रिया योरप में प्रचंड रूप धारण कर चुकी है, और भारत में भी स्त्रियों की जागृति के रूप में प्रकट हो रही है। अब तक स्त्री को अयोग्य कहकर, पुरुष से नीची कहकर दबाया गया है; अब स्त्री अपने को योग्य

बनाकर, पुरुष के मुक़ाबिले की बनकर, पुरुष से कई क्षेत्रों में आगे बढ़कर दिखाएगी। अब स्त्री पुरुष के साथ प्रतियोगिता क हर क्षेत्र में आएगी। पुरुष जो-कुछ करता रहा है, और जिस काम में भी वह अपनी ईश्वर-प्रदत्त स्वाभाविक योग्यता की दुहाई देकर स्त्री को अपने से नीची कहता रहा है, उसमें स्त्री अब सिद्ध करेगी कि वह पुरुष से नीची नहीं थी, पुरुष की ग़ुलामी में बँधे होने के कारण वह अब तक अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर सकी थी। स्त्री अब यह सिद्ध करेगी कि अगर उसे भी पुरुष के समान ही अवसर दिया जाय, तो वह भी प्रत्येक क्षेत्र में उसी प्रकार अपनी योग्यता का परिचय दे सकती है, जिस प्रकार अब तक पुरुष देता रहा है। पुरुष वकालत करते रहे हैं, स्त्रियाँ भी वकील बनकर दिखाएँगी, और वकालत भी पुरुषों से अच्छी करके दिखाएँगी। पुरुष चिकित्सा करते रहे हैं, स्त्रियाँ भी चिकित्सिकाएँ बनकर दिखाएँगी, और पुरुषों की अपेक्षा अच्छी चिकित्सा करेंगी। स्त्रियाँ पुरुषों के मुक़ाबिले में सब-कुछ करेंगी, और प्रत्येक काम में पुरुषों से बढ़कर दिखाएँगी। स्त्रियों को अयोग्य तथा असमर्थ कहकर सदियों से जो दासता में रखने का प्रयत्न किया गया है, उसका वे अब मुंह-तोड़ उत्तर देंगी। योरप तथा भारत में स्त्री-जाति का भविष्य प्रतिक्रिया की इसी भावना के साथ बँधा हुआ है। इस प्रतिक्रिया को रोका नहीं जा सकता। अब तक स्त्री-जाति के साथ जो इकतरफ़ा बर्ताव हुआ है, उसके प्रतिकार के लिए यह आवश्यक हो गया है कि स्त्री-समाज को अपनी शक्तियों का पूर्ण-विकास करके दिखा देने का अवसर दिया जाय। इस अवसर के लिए वे अब किसी का मुंह नहीं ताकेंगी। इस अवसर को उन्होंने अपने हाथों में ले लिया है और इसी से

अब उनके भविष्य का निर्माण हो रहा है। इस स्थिति को अब कोई बदलने की भी कोशिश करे तो बदल नहीं सकता।

इस प्रतिक्रिया का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि समाज में पुरुष या स्त्री की स्थिति एक-समान हो जायगी। पुरुष को उच्च तथा स्त्री को नीच समझने का विचार नष्ट हो जायगा। अब तक जिस प्रकार समाज के क्षेत्र से स्त्री को निर्वासित किया गया था, अब वह अवस्था नहीं रहेगी। स्त्री-जाति अब तक गुलामी के बोझ से दबती चली आई है। अब वह इस बोझ को अपने कंधों पर से उतार फेंकेगी। अब तक उसे पुरुष से नीचा गिना जाता रहा है, अब वह पुरुष के साथ बराबर होने के अपने अधिकार को मनवाकर रहेगी। अब तक समाज से अर्धचंद्र देकर उसे निकाला जाता रहा है, अब वह समाज के क्षेत्र में पुरुष के बराबर अपना स्थान बनाकर रहेगी। अब तक पुरुष जो कुछ करता रहा है, स्त्री को उस सबसे बल-पूर्वक रोका गया है, अब वह पुरुष के मुक़ाबिले में सब-कुछ करके दिखा देगी। स्त्री-जाति का निकट भविष्य यही है। वह अपने भूत के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया करेगी, एक प्रबल प्रतिक्रिया करेगी। इस प्रतिक्रया का होना स्वाभाविक तथा आवश्यक है। अगर यह प्रतिक्रिया न होगी, तो स्त्री तथा पुरुष दोनों के हृदय के भीतर स्त्री के विषय में पुराने विचार कुछ-न-कुछ अपना असर बनाए ही रक्खेंगे। स्त्रियाँ तब तक अपने को असमर्थ समझती रहेंगी, जब तक वे पुरुषों द्वारा किए जाने-वाले सब काम करके अपनी योग्यता को परख न लेंगी। इसी प्रकार पुरुष भी जब तक स्त्रियों को उन सब कामों को करते हुए न देख लेंगे, जिन्हें अब तक पुरुष ही कर सकते थे, तब तक उनमें स्त्रियों की सामर्थ्य के विषय में संदेह बना ही

रहेगा। इस प्रतिक्रिया के द्वारा स्त्री के विषय में उसके 'तुच्छ जीव' होने का जो विचार हमारे समाज में घर कर चुका है, उसका परिशोध हो जायगा। स्त्री ने सदियों की ग़ुलामी में जो-कुछ खोया है, उसे वह इस प्रतिक्रिया के द्वारा ही फिर से प्राप्त करेगी। संभव है, इस प्रकार अपनी स्थिति को पाने में वह थोड़ा-कुछ खो भी बैठे, परन्तु थोड़ा-बहुत खोकर भी वह जो-कुछ पा जायगी, वह स्त्री को अपनी उचित स्थिति में लाने में बहुत सहायक सिद्ध होगा। अधिक निकट-भविष्य का समय तो इस प्रतिक्रिया का ही उग्र रूप होगा, इस समय स्त्री का सबसे बड़ा ध्येय अपने खोए हुए मैदान को जीतना होगा, ग़ुलामी से निकलकर अपनी योग्यता का परिचय देना होगा, स्त्री तथा पुरुष की समानता को सिद्ध करने में अपनी नस-नस को लगा देना होगा।

इस प्रतिक्रिया के अनंतर, स्त्री के 'तुच्छ तथा घृणित जीव' होने के विचार के लुप्त हो जाने पर, प्रतिक्रिया की गर्मी में स्वभावतः पर्याप्त कमी आ जायगी। तब हम इस स्थिति में होंगे, जब यह निर्णय किया जा सकेगा कि स्त्री को पुरुष के तथा पुरुष को स्त्री के मुक़ाबिले में किस क्षेत्र में आना चाहिए, और किसमें नहीं। उस समय समाज में स्त्री को पुरुष के बराबर स्थिति मिल चुकी होगी, और तब वह किसी अयोग्यता के कारण नहीं, परन्तु श्रम-विभाग के नियमों के अनुसार, पुरुष के साथ किसी प्रकार का समझौता कर सकेगी। स्त्री तथा पुरुष का कार्य-क्षेत्र अगर अलग-अलग है, तो उनके सामाजिक-दृष्टि से एक-समान होते हुए भी ऐसा हो सकता है। उनके कार्य-क्षेत्र को भिन्न-भिन्न सीमाओं में बाँधने के लिए यह तो आवश्यक नहीं कि समाज से स्त्री की स्थिति

को ही सर्वथा उड़ा दिया जाय। इस समय स्त्री के सामने सबसे पहला काम तो अपनी स्थिति को बनाना हो गया है। जब वह स्थिति बन जायेगी, तब समानता के मंच पर आकर वह पुरुष के साथ अपने काम को बाँट सकेगी। उस समय स्त्री तथा पुरुष के क्षेत्रों का निर्णय इन दोनों की समानता को मानकर किया जायगा, इन दोनों में स्वामी तथा दासी का संबंध कल्पित करके नहीं। बराबरवालों में भी तो श्रम-विभाग के कारण कार्य-क्षेत्र का विभाग हो सकता है। परन्तु इस प्रकार श्रम-विभाग के आधार पर अपने क्षेत्र को सीमाबद्ध करती हुई भी स्त्री अपने को किसी प्रकार की असमर्थता की अवस्था में रखने के लिए तैयार नहीं होगी। अगर स्त्री श्रम-विभाग के कारण घर को अपना कार्य-क्षेत्र चुनेगी, तो भी घर के बाहर के क्षेत्र में कार्य करने के लिए अपने को स्वतंत्र रक्खेगी। अगर वह कभी अपने को ऐसी अवस्थाओं में पाएगी, जिनमें घर से बाहर रहकर कार्य करना ही उसके लिए हितकर होगा, तो वह अपनी सामर्थ्य का उपयोग करेगी, और अगर इसी बात की ज़रूरत हुई, तो घर छोड़कर पुरुष के मुक़ाबिले में भी कार्य करेगी। अब आगे से स्त्री अपने को ऐसी स्थिति में डालने के लिए कभी तैयार न होगी, जिसमें किसी हालत में भी, वह बिल्कुल पराश्रित हो जाय, बिल्कुल ग़ुलाम हो जाय। स्त्री-जाति का प्रश्न इसी दिशा में हल होने को जा रहा है और यह प्रश्न इसी रूप में पूर्णतया हल हो सकेगा।

जब भारत की स्त्रियाँ उतना जाग जाँयगी, जितना पाश्चात्य देशों की उनकी बहनें जाग चुकी हैं, जब वे अपने मानवीय अधिकारों को फिर से प्राप्त कर लेंगी; जब वे ग़ुलामी की बेड़ियों से मुक्त हो जाँयगी, और जब वे 'प्रतिक्रिया' की

प्रक्रिया में से गुज़रकर स्वस्थ अवस्था में आ जाँयगी, तब शायद फिर वे उन्हीं आदर्शों की तरफ झुकेंगी, जो आदि-काल से स्वयं भगवान् ने स्त्री-जाति के हृदय में धरोहर के रूप में रक्खे थे। स्त्री 'शक्ति' की प्रतिनिधि है, वह महान् है, दिव्य है। आर्थिक-स्वतंत्रता प्राप्त कर लेना अच्छा है; जीवन-संग्राम में परास्त हो जाना बुरा है। परन्तु आर्थिक-स्वतंत्रता ही पा लेना स्त्री के जीवन का लक्ष्य नहीं बन सकता। योरप की बहनें आर्थिक-स्वतंत्रता को पाने में अपने जीवन की बाज़ी लगा रही हैं। उनका दृष्टिकोण आमूल-चूल आर्थिक होता चला जा रहा है। वे किसी चीज़ को बिना आर्थिक-दृष्टि के देख ही नहीं सकतीं। परन्तु इस आदर्श में सुख नहीं, शांति नहीं। जीवन का ऊँचा आदर्श, जीवन का ध्येय, पाने में नहीं, खोने में है; लेने में नहीं, देने में है; भोगने में नहीं, त्यागने में है। पुरुष के लिए भी, स्त्री के लिए भी इसी आदर्श में सुख है, जीवन है। शायद पुरुष की अपेक्षा स्त्री इस आदर्श के अधिक निकट है। आज स्त्री की 'शक्ति' सदियों से ग़ुलामी में पड़े रहने के कारण पुरुष को उठाने के बजाय गिरा रही है, आगे ले जाने के बजाय पीछे धकेल रही है; परंतु जब यह 'शक्ति' जाग जायगी, और पूर्ण रूप से जाग जायगी, तब फिर से वह मानव-जाति के विशाल पोत के लिए भव-सागर में ध्रुव-तारे का काम देने लगेगी, उसके मार्ग की ज्योति और उसके जीवन का सहारा बन जायगी। स्त्री को अपनी वास्तविक स्थिति तो तभी प्राप्त होगी, परंतु उससे पहले, जिस प्रकार सतो-गुण में पहुँचने के लिए रजोगुण में से गुज़रना पड़ता है, स्त्री-जाति को भी भारत के प्राचीन सात्विक-आदर्श तक पहुँचने के लिए पश्चिम के राजसिक-जीवन में से गुज़रना ही

पड़ेगा। यह बुरा है, परंतु आवश्यक बुराई है । इस बुराई में से स्त्री-जाति की भलाई निकलेगी। तमोगुण रजोगुण में से गुज़रकर ही सतोगुण तक पहुँचता है। स्त्री-जाति को अब तक तमोगुण की स्थिति में रक्खा गया है। तमोगुण में से वह रजोगुण की तरफ़ आ रही है। जब तक स्त्री-जाति के विषय में पुराना ग़ुलामी का एक भी विचार मौजूद रहेगा, तब तक उसकी स्थिति तामसिक ही बनी रहेगी। परन्तु ग़ुलामी के ये तामसिक विचार बड़ी तेज़ी से नष्ट हो रहे हैं। स्त्री की स्थिति तामसिक-अवस्था से राजसिक-अवस्था में प्रवेश कर रही है। स्त्री में कर्मशीलता बढ़ती जा रही है। अभी रजोगुण की यह मात्रा बढ़ेगी, इतनी बढ़ेगी कि तमोगुण का एक अंश भी देखने को नहीं रहेगा। उसके बाद रजोगुण में से स्त्री के सतोगुण का आविर्भाव होगा—स्त्री, 'शक्ति' के रूप में, 'माता' के रूप में प्रकट होगी। स्त्री का वह दिव्य सात्विक रूप उसका वास्तविक रूप होगा, और वही उसकी स्पृहणीय स्थिति होगी !

